



कुटुम्ब प्रतिबंध

प्रवचन-1, दि. 07-08-1998	2
पत्रांक-103, कलकत्ता	2
प्रवचन-2, दि. 28-11-1989	14
पत्रांक-332, भावनगर	14
प्रवचन-3, दि. 01-01-1997	22
पत्रांक-510 (1), बांधणी	22
प्रवचन-4, दि. 02-01-1997	34
पत्रांक-510 (2), बांधणी	34
प्रवचन-5, दि. 27-03-1998	44
पत्रांक-528 (1) भावनगर	44
प्रवचन-6, दि. 28-03-1998	53
पत्रांक-528 (2), भावनगर.....	53
प्रवचन-7, दि. 09-08-1996	64
पत्रांक-537 (1), भावनगर.....	64
प्रवचन-8, दि. 10-08-1996	77
पत्रांक-537 (2), भावनगर.....	77
प्रवचन-9, दि. 11-08-1996	92
पत्रांक-537 (3), भावनगर.....	92
प्रवचन-10, दि. 08-01-1998.....	101
पत्रांक-374, भावनगर	101

प्रवचन-1, दि. 07-08-1998

पत्रांक-103, कलकत्ता

(श्रीमद राजचंद्र वचनामृत-पत्रांक-१०३)। पन्ना-२१० चल रहा है, 'कुटुम्बरूपी काजल की कोठरी में रहने से संसार बढ़ता है।' २३ वें साल में ये वचनामृत लिखा है। एक काजल की कोठरी हो उसमें कोई रहे और ऐसा चाहे कि मुझे दाग नहीं लगना चाहिये तो क्या यह अशक्य है? अशक्य है। काजल की कोठरी में चारों तरफ काजल लगा हो-चार दिवार, नीचे और ऊपर सब तरफ (काजल लगा हो) और काजल के परमाणु अंदर उड़ते हो, दाग लगे बिना कैसे रहेगा? ऐसे ही कुटुम्ब में रहे और संपूर्णतया दोष रूपी दाग नहीं लगे, ये बनना अशक्य है।

शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ जैसे (भगवान) चक्रवर्ती पद पर, कामदेव पद पर (विराजते थे) इतने वैभवशाली और परमज्ञानी, कुटुम्ब छोड़कर क्यों चले गये? पुण्य ऐसे होते हैं कि कुटुम्ब में वे बहुत प्रिय व्यक्ति होते हैं। अभी हम लोग जैसे रहते हैं कि बात-बात में एक-दूसरे का मुँह बिगड़ जाये, बात-बात में रूठ जाये और मुँह बिगड़ जाये, ऐसा नहीं होता। (परंतु वे तो) अति प्रिय होते हैं। इतने पुण्य वाले हैं और उनका वियोग सहन नहीं कर सकते है कुटुम्बीजन।

गुरुदेवश्री तो ऐसा कहते थे कि उनकी रानियाँ कल्पांत करे तो अपने बाल खींच डाले, ऐसे रोती हैं। कैसे रोती हैं? सिर के बाल खींच डालती हैं रोते-रोते। असह्य वेदना होती है कि ऐसे व्यक्ति घर में से चले जायेंगे? इतने सर्वगुणसंपन्न दिखते हैं इतने ज्ञानी! इतने वैरागी! इतने शांत, लौकिक गुण तो संपूर्ण होते ही हैं और अलौकिक गुण भी प्रगट किये होते हैं। उनके जो महल होते हैं, उनके आसपास बाग-बगीचे नहीं परंतु वन-उपवन होते हैं! मीलों तक (फैले होते हैं)। बादमें दूसरे लोगों के ज़मीन, खेती-बाड़ी आदि शुरू होते हैं। वे चाहे तो सारी व्यवस्था बिठा सकते हैं कि मैं महल में नहीं रहूँगा बल्कि झोंपड़ी में रहूँगा। मेरे लिये झोंपड़ी बना दो! (उनकी स्त्रियाँ आदि कहेंगे कि) कम से कम हमारी नजर के सामने तो रहो।

संयोग का सवाल नहीं है, सवाल स्वयं के परिणामों का है। दर्शनमोह तो व्यतीत हो चुका है उनका। ऐसे महान पुरुषों को तो दर्शनमोह होता नहीं, वे तो पूर्वजन्म से ही ज्ञान (आत्मज्ञान) लेकर आये हैं। अतः ज्ञान सहित ही उनका जन्म होता है। तीन ज्ञान सहित जन्म लेते हैं। मति-श्रुत और सम्यक अवधि ज्ञान-ऐसे तीनों ज्ञान उन्हें होते हैं। फिर भी कुटुम्ब को काजल की कोठरी जानते हैं। इसीलिये सर्वसंग परित्याग करके निकल जाते हैं। विषय तो मुनिदशा का है, परंतु कृपालुदेव के २३ वें वर्ष में ऐसे विचार हैं और ऐसे अभिप्राय है! मुमुक्षु की भूमिका में यह अभिप्राय बंध जाता है। फिर (ज्ञानी को) जितना चारित्रमोह रहता है तो कुटुम्ब में रहते (है), मोह होता है तब तक कुटुम्ब में रहते हैं। यह मोह खत्म हुआ फिर (कुटुम्ब के बीच) नहीं रह सकते। इस परिणाम को वे सहन नहीं कर सकते। कुटुम्ब के प्रति दर्शनमोह बिना के, मात्र चारित्रमोह के परिणामों को भी वे सहन नहीं कर सकते हैं, तब छोड़ देते हैं। भले ही वह मोह अल्प था फिर भी वह अल्प मोह भी सुहाता नहीं है। क्योंकि उन्हें पूर्ण वीतराग होना है। अतः वे

स्पष्ट कह देते हैं कि 'मुझे जब तक राग का-विकल्प का अंश चलता था और वह जिंदा था तब तक मैं रहा आपके साथ, अब वह राग मर गया है और मैं रह सकूँ, ऐसी मेरी परिस्थिति नहीं है।' अल्पकाल में केवल ज्ञान लेने वाले हैं। अंदर से पुरुषार्थ उछल रहा है। (इसीलिये ऐसा लगता है कि) यहाँ रहकर काम नहीं होगा। ऐसा स्पष्ट ख्याल आता है। इसीलिये सर्प जैसे केंचुली छोड़ता है वैसे छोड़कर निकल जाते हैं। तेजी से निकल जाते हैं। किसको क्या होगा? किसकी ममता को कितनी ठेस पहुँचेगी? (ये देखने के लिये भी नहीं रुकते), क्योंकि वीतरागता में यह बात नहीं रहती।

जब तक अज्ञानदशा है, जब तक कुटुम्ब प्रतिबंध है, कुटुम्ब के सदस्यों के प्रति मेरापना है अथवा कुटुम्ब के व्यक्ति अपने दिखते हैं-ऐसी जो नज़र अनादि से है वह बदली नहीं, नज़र बदलकर वे पराये दिखते नहीं, तब तक तो (कुटुम्ब) ये संसार बढ़ने का ही कारण है। परिभ्रमण बढ़ने का ही कारण है।

संसार परिभ्रमण के दो कारण कृपालुदेव ने स्पष्ट कहे हैं-एक स्वच्छंद और दूसरा प्रतिबंध। स्वच्छंद थोड़ा-बहुत दबता है यदि अपने दोष अपक्षपात रूप से देखें, देख सके, ऐसी भूमिका में आये तो। और प्रतिबंध जो है उसे तो छोड़ना ही होगा। फिर चाहे वह समाज का प्रतिबंध हो तो भी छोड़ देना। समाज क्या कहेगा? यह बात छोड़ देना। अथवा किसी भी दूसरे की नज़र में अच्छा दिखाने की वृत्ति अथवा अभिप्राय (होना) यह समाज प्रतिबंध है। फिर आबरू-कीर्ति अच्छी रहे, दिखाव अच्छा रहे, शरीर का दिखाव अच्छा रहे, वर्तन का दिखाव अच्छा रहे और दूसरे की नज़र में अच्छे दिखे-ये समाज प्रतिबंध है। समाज प्रतिबंध कहो, लोकसंज्ञा कहो, या तीव्र परलक्ष कहो, या स्वलक्ष से दूर जाने का प्रयोग कहो ये सब एक ही है। कृपालुदेव ने लोकसंज्ञा को कालकूट ज़हर कहा है दूसरे पत्र में। क्या कहा है? कालकूट ज़हर-कातिल ज़हर (इस) ज़हर से कितना दूर रहना चाहिये? कि उसकी सीलबंद बोतल को भी हाथ लग गया हो तो आदमी तीन बार साबुन से हाथ धो लेगा! ढक्कन भी नहीं खोला हो और बोतल भी सीलबंद हो फिर भी अगर एक जगह से दूसरी जगह हाथ से रखी हो तो भी तीन बार साबुन से हाथ धो लेगा। इतना डर लगता है, ज़हर का इतना डर लगता है। इतना ही लोकसंज्ञा से मुमुक्षु जीव को भयभीत होना चाहिये और इतना ही कुटुम्ब प्रतिबंध से भयभीत होना चाहिये।

कुटुम्ब में मेरापना का मिठास वह मीठा ज़हर है। कैसा है? मीठा ज़हर है। मालूम ही नहीं पड़ेगा। मीठा इतना लगेगा कि मालूम ही नहीं पड़ेगा (कि यह ज़हर है)! सेक्रीन का हाथ लगाई हुयी छुरी हो, जीभ पर लगे तो मीठी लगेगी लेकिन जीभ कट जायेगी! धार इतनी तीक्ष्ण होती है कि चखने जायेगा कि कितनी मीठी है? मीठी तो लगेगी जरूर क्योंकि उस पर सेक्रीन लगाया है, लेकिन जीभ कट जायेगी। ये कुटुम्ब प्रतिबंध ऐसा है। ५३७ (पत्र में) तो कृपालुदेव ने स्पष्टरूप से नरक, निगोद का ही कारण कहा है। और मुमुक्षु को ऐसा समझना चाहिये कि मुझे कृपालुदेव आज्ञा कर रहे हैं कि 'तू कुटुम्ब प्रतिबंध छोड़'।

पत्र पढ़ने का अथवा स्वाध्याय करने का अर्थ क्या है? कि इस पत्र पर नाम चाहे जिसका भी लिखा हो, स्वाध्याय करने वाले को तो उस जगह अपने को ही बिठा देना चाहिये, उस स्थान में स्वयं को ले लेना चाहिये। तू जितना कुटुम्ब प्रतिबंध करेगा (परिभ्रमण) के अलावा उसका दूसरा कोई अंजाम नहीं है।

५३७ पत्रांक लो ना। ४४२ पन्ने पर वाक्य लिखा है (वह देखें)। क्या कहते है? ऊपर से छट्टी पंक्ति, 'स्वप्नदशा में जैसे न होने योग्य ऐसी अपनी मृत्यु को भी जीव देखता है, वैसे ही अज्ञान दशा रूप स्वप्न रूप योग से यह जीव अपने को, जो अपने नहीं हैं ऐसे दूसरे द्रव्यों में निजरूप से मानता है; और यही मान्यता संसार है, यही अज्ञान है, नरकादि गति का हेतू यही है...' इसका फल सीधा नरक ही बताया है। '...यही जन्म है, मरण है, और यही देह है, देह का विकार है, यही पुत्र है, यही पिता, यही शत्रु, यही मित्रादि भाव कल्पना का हेतू है;...' लिया है न? संसार के सारे संबंध लिये? पुत्र, मित्र सब, '...और जहाँ उसकी निवृत्ति हुई वहाँ सहज मोक्ष है;...' जैसे ही कुटुम्ब से भिन्न हुआ वैसे ही उसका प्रतिबंध गया। अंदर से भिन्न हुआ, बाहर से भले ही संयोग में रहे अभी मुमुक्षु है, लेकिन अंदर से भिन्न हुआ तो सहज मोक्ष है। '...और इसी निवृत्तिके लिये...' यानि कि इस प्रतिबंध को छोड़ने के लिये '...सत्संग, सत्पुरुष आदि साधन कहे हैं और वे साधन भी कब, यदि जीव अपने पुरुषार्थ को छिपाये बिना उनमें लगाये, तभी सिद्ध होते हैं।' (ये साधन भी पुरुषार्थ करने पर ही) प्राप्त हुये (ऐसा कहा जायेगा), वरना नहीं। वरना वे साधन नहीं रहते। 'अधिक क्या कहें ? इतनी संक्षिप्त बात यदि जीव में परिणामित हो जाये तो वह सर्व व्रत, यम, नियम, जप, यात्रा, भक्ति, शास्त्रज्ञान आदि सब कर चुका है, इसमें कुछ संशय नहीं है।' कुटुम्ब प्रतिबंध छोड़ा तो (वह जीव) शरीर प्रतिबंध आसानी से छोड़ेगा। क्यों? कि कुटुम्ब है वह शरीर को अनुकूलता देने वाले निमित्त है। 'आपको दूध चाहिये? आपको पानी चाहिये? आपको भोजन चाहिये? आपको अनुकूलता चाहिये? आपको ऐसे करना है? आपको वैसे करना है?' इस तरह सारी अनुकूलतायें (मिल जाती हैं)। आपस में एक-दूसरे की (अनुकूलताये) बनाये रखते हैं कि नहीं? आपस में स्नेह रखते हैं, आपस में अनुकूलतायें बनाये रखते हैं। इसीलिये उस में देहात्मबुद्धी-देह प्रतिबंध तो उसके अंदर घूँटता ही है। लेकिन (जो) कुटुम्ब प्रतिबंध छोड़ता है उसे देह प्रतिबंध छोड़ने की तैयारी हो जाती है। (वह कैसे)? कि 'ज्यादा कुछ तो देह कि अनुकूलता के लिये विचार करने की जरूरत रहती नहीं, मुझे जैसे-तैसे भी चलेगा, कोई भी परिस्थिति (मंजूर है)। मुझे चलेगा।' (ऐसी तैयारी हो जाती है)। 'मुझे मेरा (आत्मकल्याण का) कार्य करना है। कहीं भी रहकर मुझे मेरा काम करना है। चाहे कोई भी स्थिति में मुझे मेरा आत्मकल्याण करना है।' इस तरह देह प्रतिबंध आसानी से छोड़ सकता है। फिर वह बंधन रहता नहीं। अंत में संकल्प-विकल्प प्रतिबंध है, वह तो थोड़ा सूक्ष्म विषय है। कि जब तक राग का भी कर्ता पना अंदर में रहेगा, राग का भी एकत्व रहेगा, सूक्ष्म राग का भी एकत्व और कर्तत्व रहेगा, तब तक विकल्प नहीं मिटता और निर्विकल्प दशा आती नहीं। वह प्रतिबंध तो आगे पुरुषार्थ से छूटता है। उसे छोड़ने के लिये फिर कोई ज्यादा अवरोध रूप कारण रहता नहीं। जिसका कुटुम्ब प्रतिबंध और देह प्रतिबंध छूटा, उसे संकल्प-विकल्प प्रतिबंध छोड़ने के पुरुषार्थ में फिर दूसरा कोई अवरोध नहीं

रहता। मुख्यपने जीव का पुरुषार्थ अगर रुकता है तो वह इसमें रुकता है। यानि कि कुटुम्ब प्रतिबंध में और देह प्रतिबंध में (रुक जाता है)।

मुमुक्षु:- कुटुम्ब में अनुकूलता हो उसमें जीव रुक जाये यह तो ठीक है, परंतु अनुकूलता नहीं हो बल्कि प्रतिकूलता हो तो भी जीव वहाँ पर चिपका हुआ रहता है।

पूज्य भाईश्री:- बिल्कुल ठीक बात है। धूतकारने पर भी छोड़ नहीं सकता, क्या? अनुकूलता में तो फिसल ही जाता है, इसमें तो बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है, तो ही अनुकूलता में से छूट सकता है। इसमें ज्यादा पुरुषार्थ चाहिये। प्रतिकूलता में तो स्पष्ट समझ में आये ऐसी बात है कि ये कोई मेरे सगे हैं ही नहीं। मैं मुफ्त का चिपक रहा हूँ, इतनी ही बात है। क्योंकि उसमें तो स्पष्ट दिखे ऐसा है। क्योंकि बात-बात में 'तू-तू, मैं-मैं' हो जाता है- 'तूने ऐसा किया और तूने वैसा किया, तू ऐसा कर रहा है और तू वैसा कर रहा है।' सगे स्वार्थ के होते हैं-ये कुछ समझाना पड़ता नहीं और अभी तो बहुभाग ऐसा होता है। कुटुम्ब के बीच प्रेम-स्नेह हो ऐसे बहुत कम कुटुम्ब होते हैं। उसमें से निकलना तो बहुत ही मुश्किल है। उसमें ज्यादा मुश्किल पड़ता है, क्या? उसमें (प्रतिकूलता में) तो आदमी अगर थोड़ा भी समझदार हो ना। तो कुटुम्ब प्रतिबंध छोड़ने में देर नहीं लगे। लेकिन फिर भी अगर नहीं छोड़ता हो तो वह थोड़ा भी समझदार नहीं है, ऐसे लेना। क्या? स्पष्ट बात है (कि कुटुम्ब प्रतिबंध से) संसार बढ़ता है। नरक, निगोद में जाने की तैयारी स्वयं कर रहा है, यहाँ पर।

(यहाँ हमारे चलते हुए पत्र में क्या कहते हैं)? 'चाहे जितना उसका सुधार करें; तो भी एकांतवास से जितना संसार क्षय होने वाला है उसका सौवाँ हिस्सा भी उस काजलगृह में रहने से नहीं होने वाला है।' ऐसा है। चाहे जितना सुधार करो या व्यवस्था रखो कि हमें ऐसी व्यवस्था रखनी है कि घर में एक रूम ज्ञान-ध्यान के लिये अलग रखना, office की जगह अलग रखना, लिखने-पढ़ने की व्यवस्था अलग रखना। कुछ धार्मिक विषय में लिखना-पढ़ना हो तो (इसका कमरा अलग रखना) चाहे जितनी व्यवस्था रखो (तो भी संसार क्षय होने वाला नहीं है)। (यहाँ तो) आगे बढ़े हुये (तीव्र मुमुक्षुता की भूमिका के) विषय की बात ली है। एकांतवास लिया है जो नीचे की भूमिका में लागू नहीं होता। बोध की परिपक्वता आने पर एकांतवास में जाये तब तो दिक्कत नहीं है। इसके पहले एकांतवास में से भी दूसरी-दूसरी लाईन और दूसरे विकल्प में चढ़ जाने की संभावना ज्यादा है। क्योंकि एकांत में तो ज्ञान से ज्यादा ध्यान की मुख्यता है। और ध्यान है वो पदार्थ निर्णय (स्वरूप निर्णय) के पहले नहीं होता।

२५४ (पत्र) में कृपालुदेव ने मुमुक्षुता का जो क्रम लिया है उसमें आखरी stage पदार्थ निर्णय का लिया। वह पदार्थ निर्णय यानि स्वपदार्थ का निर्णय-स्वरूप का निश्चय। यह स्वरूप निश्चय यानि स्वरूप की पहचान-स्वरूप का भावभासन और इस स्वरूप के भावभासन में अनंत सुख का समुद्र आत्मा, अनंत सुख का धाम (का) प्रत्यक्ष अंश से विश्वास आता है। इसका प्रत्यक्ष अंश से विश्वास आता है कि 'है', इसकी हय्याती 'है'। मेरे में अनंत सुख हय्यात है। इसका विश्वास आता है। जैसे सर्प की पूँछ दिखने पर, पूरा सर्प अंदर छिपा हुआ है-बिल के अंदर या furniture के पीछे (ऐसा विश्वास

आ जाता है)। फिर कुतर्क नहीं करता है कि सिर्फ पूँछ ही देखी है अभी मुँह नहीं देखा है, काटेगा तो मुँह से ही ना। ऐसा कोई साहस करता नहीं। वैसे एक अंश से भी पूरा सुख समुद्र (आत्मा) विश्वास में-प्रतीति में आता है और परिणाम उसके बाद दिशा बदलकर उस तरफ खींचने लगते हैं। परिणाम हमेशा सुख की ओर ही खींचते हैं। सुख नहीं हो परंतु सुख की कल्पना हुयी हो तो भी खींचते हैं। ये तो प्रगट अनुभव है। तो वास्तविक सुख का समुद्र देखे और परिणाम उस तरफ नहीं खींचे या नहीं दौड़े, ये बनता ही नहीं। और इसके बाद सहज ध्यान की दशा है। पुरुषार्थ साथ में होता है, वीर्य का उछाला साथ में होता है। इसके पहले ध्यान करने जाये तो कल्पना में चढ़ने का अवकाश रहता है अथवा बहुभाग जीव कल्पना में चढ़ जाते हैं और वे गृहीत मिथ्यात्व में आ जाते हैं। अतः आत्मा का लाभ होने का तो एक बाजू रहा-आत्मलाभ तो एक बाजू रहा नुकसान होने की परिस्थिति इसमें बहुत ज्यादा है। यहाँ तो ऊपर की (भूमिका की) बात है।

कृपालुदेव जो लेते हैं की 'कुटुम्ब है सो काजल की कोठरी है', ऐसा लिया है। एकांतवास है उसमें जितनी साधना कर सकता है ऊपर का साधक-ऊपर की भूमिका का साधक, इसके सौवें भाग में भी कुटुम्ब के साथ रहकर नहीं कर सकता। नीचे की भूमिका वालों को इस भूमिका की भावना भानी है कि 'आगे की (दशा में) ऐसी बात है और मेरी ऐसी दशा हो तो अच्छा', ऐसी भावना भाने की बात है। ऊपर की भूमिका की है इसीलिये मुझे लागू नहीं होती है इसीलिये मुझे उपेक्षा करना है, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु:- नीचे की भूमिका में ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि जिससे ऊपर की भूमिका में आया जा सके।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, प्रतिबंध छोड़ने का पुरुषार्थ करना चाहिये। जब तक कुटुम्ब प्रतिबंध छूटा नहीं, तब तक कुटुम्ब प्रतिबंध छोड़ने का पुरुषार्थ होना चाहिये। और तब ही वह कुटुम्बरूपी कोठरी को सहजमात्र में छोड़ सकेगा। वरना जंगल में जाने के बाद, दीक्षा लेने के पश्चात वहाँ जाकर कुटुम्ब की याद आयेगी। क्योंकि अंदर अभिप्राय और रस पड़ा है, प्रतिबंध छोड़ा नहीं।

अतः जिनमार्ग जो है वह तो व्यवस्थित है। पहले तू अंदर रहकर प्रतिबंध छोड़, बाद में बाहर से उसका त्याग करना। अंदर से प्रतिबंध छोड़े बिना तूने बाहर का त्याग किया है तो वहाँ (जंगल में) जाकर (कुटुम्ब) याद आयेगा। भोग-उपभोग सब याद आयेगा, अनुकूलताये, सब प्रसंग, सब कुछ स्मरणपट पर आने लगेंगे। Picture चालू हो जायेगा और परिणाम वहाँ लगे रहेंगे। इसीलिये (जिनमार्ग में) व्यवस्थित रूप से बात है। मुमुक्षु की भूमिका में पहले प्रतिबंध छूटने के बाद ऊपर की भूमिका में एकांतवास में जाये तो बाधा नहीं आयेगी। वरना एकांतवास है वह भी नुकसान का कारण हो सकता है।

'वह कषाय का निमित्त है;...' काजलगृह ऐसा जो लिया, वह कषाय का निमित्त है। इसीलिये थोड़ा-बहुत दाग तो लगेगा, लगेगा और लगेगा ही। अतः जो मुनिदशा में आते हैं, वे तो संपूर्ण निर्दोष होने के पुरुषार्थ में आ गये हैं, इसीलिये फिर उन्हें (कुटुम्ब के) साथ रहना सुहाता नहीं।

मुमुक्षु:- भाईश्री! निमित्त कहा है कारण नहीं कहा है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, निमित्त ही है-निमित्तकारण ही है। वैसे (वास्तविक) कारण तो है ही नहीं। कोई (कषाय) कराता है या कुटुम्ब मोह कराता है-ऐसा नहीं है। ये तो अभी बात चली न कि कुटुम्ब वाले धुतकारते हो तो भी स्वयं चिपक कर बैठा रहता है। वे कहाँ (मोह) कराते हैं? करता है तो स्वयं ही ना। प्रतिकूल संयोगों में भी स्वयं ही तो करता है, और क्या करता है? अनुकूलता वाले (प्रतिबंध जल्दी से) नहीं छोड़ सकते, ये इसके लिये तो स्वाभाविक है कि कुटुम्बियों को बहुत दुःख होगा, क्या? परंतु जिन्हें तीव्र कुटुम्ब प्रतिबंध होता है वे प्रतिकूलता में भी छोड़ सकते नहीं। कुटुम्ब प्रतिबंध को छोड़ सकते नहीं। कुटुम्ब को छोड़ने की बात नहीं है, कुटुम्ब प्रतिबंध को छोड़ सकते नहीं। (उसको ऐसा ही रहा करता है कि) 'उसको ऐसा लगेगा और उसको वैसा लगेगा, उसको ऐसा लगेगा और उसको वैसा लगेगा, ऐसा करूँगा तो ऐसा लगेगा और ऐसा करूँगा तो वैसा लगेगा।' उनको क्या लगेगा इसकी चिंता होती है, तेरा क्या होगा इसकी चिंता नहीं होती। ऐसी परिस्थिति है। अर्थात् वे तो निमित्त ही हैं। निमित्त कुछ करे, ये तो प्रश्न (ही) नहीं है।

(आगे कहते हैं) 'मोह के रहने का अनादिकालीन पर्वत है।' मोह के रहने का अनादिकालीन पर्वत है, ऐसा कहा। पर्वत कभी खाली होता नहीं। पर्वत में से खतारा भर भर के, truck भर-भर के माटी ले जाये पत्थर ले जाये, फिर भी पर्वत खाली होता है क्या? 500-1000 साल (हो गये हो फिर भी) वैसा का वैसा लगता है। वैसे (कुटुम्ब है वह) मोह का बड़ा पर्वत है।

'वह प्रत्येक अंतर गुफा में जाज्वल्यमान है।' और परिणाम की गुफा को देखा जाये तो अंदर में बहुत जमी हुयी बात है। कुटुम्ब प्रतिबंध छोड़ने का जीव पुरुषार्थ करता है मुमुक्षु की भूमिका में, तब समझ में आये जैसा है कि इसमें तो पसीना उतर जाये, ऐसी बात है। कोई सरल बात नहीं है। संसार में से छूटना-निकलना, ये बहुत कठिन है इसका कारण यह है कि जीव कुटुम्ब प्रतिबंध छोड़ सकता नहीं। यह छोड़ दे तो बहुत आगे निकल जाये। बहुत बड़ा लाभ कर सकता है, बहुत बड़ा लाभ प्राप्त कर सकता है। लेकिन उसे छोड़ने में पुरुषार्थ चाहिये, अच्छा-खासा पुरुषार्थ चाहिये। प्रयत्न करने पर वह समझ में आ सकता है कि इसमें कितना पुरुषार्थ चाहिये। Practical side तो प्रयत्न करने पर ही समझ में आती है कि अंदर में जो अपनत्व के संस्कार जमे हुये हैं। इसकी परिणति जमी हुयी है। वह परिणति तो समझ में आती ही नहीं।

हमने एक दृष्टांत लिया कि बाहर में प्रतिकूलता है, कुटुम्बीजन तो प्रतिकूलता देते हैं फिर भी अंदर में (मोह की) परिणति है, वह ढीली तक नहीं होती। बाहर में तो द्वेष कर लेगा आमने-सामने। कुटुम्ब का सभ्य द्वेष करे तो स्वयं भी सामने द्वेष कर लेता है। लेकिन अंदर में जो अपनत्व की परिणति है, इसमें कितना स्वयं का आत्मा पकड़ा हुआ है इसकी स्वयं को खबर नहीं है और उसमें से वह छूट सकता नहीं। वे द्वेष करते हैं लेकिन उसकी राग की परिणति नहीं मिटती। क्योंकि द्वेष तो उदय आया उस वक्त क्षणिक द्वेष कर लिया। कोई द्वेष का प्रसंग खड़ा हुआ और क्षणिक द्वेष तो कर लिया, लेकिन (फिर

भी उसके प्रति राग की) परिणति जमी हुयी है और वह समझ में नहीं आती, दिखायी नहीं देती। और इसे दूर करने का उपाय भी जीव को विचार में आता नहीं, तो प्रयत्न में तो आयेगा ही कैसे? अभी तो विचार में ही नहीं आता, तो प्रयत्न में तो आयेगा कैसे?

कल परिणति का थोड़ा विषय अपना चला, रात के स्वाध्याय में। वह चीज ही ऐसी है, रस ले-लेकर के वह परिणति बन चुकी होती है, इतना रस ले लिया। एक छः, आठ महिने के बालक को देखते हैं तो वह भी अपनी माँ का हाथ पहचान लेता है। उसको दूसरा कोई उठाये और (उसकी माँ) उसको उठाये, दोनों में उसके परिणाम में फर्क पड़ता है! हँसने लगेगा, अपनी माँ को देखते ही हँसने लगेगा, उठाने की तो क्या बात करे! दूसरे की गोद में हो और सामने से माँ को आते हुये देखे तो हँसने लगेगा! इस तरह छः छः महिने के आयुष्य की अवस्था से इतना मेरापना का रस ले लिया है। 'ये मेरी माँ है' ऐसी भाषा नहीं आती, ऐसा स्पष्ट विकल्प नहीं है कि 'ये मेरी माँ है' अस्पष्ट भाव है उसे कि 'ये मेरी माँ है', लेकिन रस कितना पड़ा है! (अनन्तकाल के बाद) जब विचार करने का वक्त आये, सत्पुरुष के वचनमृत सामने आये, मालूम पड़े कि ये (ममत्व) नरक, निगोद का हेतू है, मुझे ये कारण को छोड़ना पड़ेगा। लेकिन अंदर में कितना (विपरीत ग्रहण) करके बैठा है, इसकी स्वयं को खबर नहीं होती। इसकी परिणति कितनी (गाढ़) हो चुकी है, यह खबर नहीं होती। द्वेष करने पर भी परिणति नहीं छूटती है राग की, बोलिये! उसे (छोड़ने का) पुरुषार्थ करे तब ही समझ में आ सकता है कि इसमें कितना पसीना छूटे ऐसा है।

या तो बहुत सुगम-सरल उपाय (यह है कि) अगर कोई ज्ञानीपुरुष उसे मिल जाये और उनके प्रति अपनत्व-अभेदभाव हो जाये, अभिन्नबुद्धि (हो जाये तो अपनत्व मिट जाये)। ४७० पत्र में अभिन्नबुद्धि कहा न! 'ज्ञानीपुरुष के प्रति अभिन्नबुद्धि हो, यह कल्याण का महान निश्चय है...' ऐसा लिया है। सिद्धांत लिया है ४७० (पत्र) में। यहाँ अपनत्व हो जाये तो वहाँ (कुटुम्ब में से) विरक्त होने में देर नहीं लगेगी। सहजमात्र में विरक्त हो जायेगा। क्योंकि (सत्पुरुष के प्रति) परिणति होकर उसका रस शुरू हो गया, तो (दूसरा) रस छूटता जायेगा। (इस तरफ का) वजन ही इतना आता है कि (दूसरी ओर का) परिणति का पलड़ा उछल जायेगा।

अतः कृपालुदेव ने सत्पुरुष का विषय यहाँ मुख्य किया है, इसका कारण यह है कि दूसरे किसी भी प्रकार से (अपनत्व) छोड़ने जायेगा तो छोड़ने में उसे पसीना आ जाये ऐसा है। क्योंकि ऐसे-ऐसे उदय आते हैं, ऐसे-ऐसे प्रसंग बनते हैं, जिसमें कुटुम्ब प्रतिबंध की जो परिणति होती है वह फिर से दृढ़ हो जाती है। बार-बार बह जाता है। थोड़ा-बहुत विचार करके पतला किया हो वह फिर से गाढ़ हो जाता है। सत्संग का थोड़ा असर आया हो उसे धुल जाने में देर नहीं लगती। एक उदय आ जाये कि सब धुल जाता है। इस तरह (प्रतिबंध छोड़ने का) बहुत कठिन विषय भी है और एक तरफ से देखे तो बहुत सुगम भी है, परंतु (ज्ञानीपुरुष के प्रति) अभिन्नबुद्धि आये तब, नहीं तो नहीं।

...इसमें होता क्या है कि जीव को जब वास्तव में संसार से मुक्त होने की भावना हुयी हो, बहुत ईमानदारी से ये बात हो कि अब वास्तव में मुझे छूट ही जाना है, किसी भी कीमत पर छूट ही जाना है, ऐसा अभिप्राय हो चुका हो। फिर जब उसे छूटने के कारणभूत ऐसे सत्पुरुष मिलते हैं, तब उसे ऐसा लगता है कि 'बस! मैं जिस दुःख के समुद्र में डूब रहा था, इसमें से बचने के लिये मुझे नाँव मिल गयी। मैं अब इसमें बैठ जाऊँ!' फिर उसे किनारा नज़दीक दिखता है। वरना तो किनारा १५ फीट दूर हो तो भी डूब जाता है। १५ फीट तक तैर नहीं सकता, तैरैया हो तो भी क्योंकि (पानी का) प्रवाह ऐसा होता है कि उसे खींच जाता है। (परन्तु सत्पुरुष मिलने के) बाद उसे प्रतीति आ जाती है कि 'अब मैं तिर गया!' फिर वह नाँव को इस तरह पकड़ कर रखेगा कि फिर किसी भी कीमत पर नहीं छोड़ेगा। यानि कि उस तरफ की पकड़ इतनी मजबूत आती है कि (संसार) की पकड़ छूट जाती है, ऐसा होता है। एक तरफ झुकाव बढ़ जाने से दूसरी ओर का झुकाव सहज घट जाता है या मिट जाता है। ऐसा प्रकार (बनता) है।

(यहाँ क्या कहते हैं) 'वह प्रत्येक अंतरगुफा में जाज्वल्यमान है।' क्या (जाज्वल्यमान है)? मोहा प्रत्येक अंतरगुफा में भीतर के परिणामों की परिणति बहुत गाढ़ की हुयी है। वह सब जमा हुआ है, (ऐसा कहते हैं)।

मुमुक्षु:- जाज्वल्यमान यानि क्या?

पूज्य भाईश्री:- जाज्वल्यमान यानि क्या, कि वह बलवान है। बलवान बलवान। बहुत बलवान है, क्या? यानि अंदर की गुफा में वह बहुत प्रज्वलित है, ऐसा कहना चाहते हैं। बाहर में कोई थोड़ा भी त्याग करे तो इसमें ऐसा नहीं समझना कि उसे कुटुम्ब प्रतिबंध छूट गया है। बहुत से लोग तो कुटुम्ब छोड़कर देशत्यागी या सर्वत्यागी हो जाते हैं। वैसे तो बहुत से लोग कुटुम्ब छोड़ते हैं परंतु इसका अर्थ ये नहीं कि, उसने कुटुम्ब प्रतिबंध छोड़ा है। प्रतिबंध पहले छूटना चाहिये फिर बाह्य त्याग करे तो अच्छा। बाह्य त्याग करने से प्रतिबंध छुटता है, ऐसा कुछ नहीं है। मेरापना छोड़ना (चाहिये)। जीव मेरापना कहीं न कहीं तो करेगा ही। या श्रीगुरु में या तो स्वरूप में, वरना अनादि से जो पर में मेरापना है वह तो इतना गाढ़ हो चुका है कि वह जल्दी से छोड़ सके ऐसा नहीं है। और इसे छोड़ने के लिये अविधि से झूठे प्रयत्न करे, झूठे प्रयोग करे या झूठे त्याग के प्रयोग करे, इससे कोई छूटा नहीं जाता। स्वयं ने अनंत बार मुनिदीक्षा ली है। इस जीव ने भी अनंतबार मुनिदीक्षा ली है। 'यम नियम संजम आप कियो, पुनि त्याग बिराग अथाग लह्यो' वैराग्य में आकर दीक्षा ली है। (लेकिन) वह वैराग्य अल्पजीवी होता है।

काम पद्धति से ही होता है। काम, काम की पद्धति से नहीं करे तो काम बिगड़ेगा, बिगड़ेगा और अवश्य बिगड़ेगा ही। हलवा, हलवा की पद्धति से ही होता है। रोटी, रोटी की पद्धति से ही बनती है। दूसरी रीत से बनाने जाये तो बिगड़ता है। रीत बदलने पर बिगड़ता ही है। कृपालुदेव ऐसा क्यों कहते हैं कि ज्ञानी के मार्ग पर चलना? सोभागभाई में बड़ा गुण कौन सा देखा उन्होंने? 'ज्ञानी के मार्ग पर चलने का उनका अद्भुत निश्चय, हमें उनकी अनुपस्थिति में भी वारंवार स्मृति में आया करता है' कि यह कैसा जीव था! मुमुक्षु की भूमिका में यह कैसा जीव था! (उनका) अद्भुत निश्चय था कि ज्ञानी के मार्ग पर ही

चलना है। (ऐसे जीव को) स्वच्छंद तो पहले जाता है, ज्ञानी की आज्ञा में आया मतलब। स्वच्छंद तो बहुत बड़ा दोष है संसार में भटकाने वाला। वह स्वच्छंद तो सर्वप्रथम ही छूट जाता है। यह एक...क्या? फिर प्रतिबंध छूटता है। परंतु यह प्रतिबंध ज्ञानी की आज्ञा में रहे तो छूटना आसान है। (लेकिन) आज्ञा में रहना भी आसान नहीं है क्योंकि उसे अपनी सब बात छोड़ देनी होगी। अपनी सब बात छोड़ेगा, तब तो आज्ञा में रह सकेगा।

ज्ञानी ऐसा कहे कि कुटुम्ब का प्रतिबंध छोड़ (मुमुक्षु) तैयार रहता है। (ज्ञानीपुरुष) प्रकृति (छोड़ने का कहे तो)? प्रकृति का ऐसा है कि अंदर में उदय आये और सावधान हो उसके पहले तो ज़ोर से जुड़ जाता है। ऐसे जो परिणाम हो जाते हैं जीव को, वह कैसे छूटे? कि ज्ञानी की आज्ञा में रहे तो छूटते है। क्योंकि उसे इतनी जागृति आती है, इतनी निर्मलता आती है, और इतनी सावधानी आती है और वह सब छोड़ने के लिये तैयार होता है। प्रकृति छोड़ने के लिये भी तैयार होता है। वरना प्राण और प्रकृति साथ ही जाये, इतनी दृढ़ हो गयी है।

‘सुधार करते हुये कदाचित् श्राद्धोत्पत्ति होना संभव है...’ श्राद्ध यानि श्रावकधर्म और उत्पत्ति यानि प्रगटता, क्या? ये ऊपर की भूमिका की बात ली है। श्रावकधर्म में तो आ जाना चाहिये। पाँचवे गुणस्थान में तो उसे आ जाना चाहिये। एकांतवास में जाना है न कुटुम्ब को छोड़कर? इसीलिये। ‘इसीलिये वहाँ अल्पभाषी होना...’ वहाँ यानि कुटुम्ब में अल्पभाषी होना यानि कम बोलना ऐसा कहते हैं, क्या? कुटुम्ब में ज्यादा कब बोलता है? रस होता है तब। रस कम होने पर बोलना कम हो जाता है। अथवा जो जीव अंतर में अपने पुरुषार्थ में और प्रयत्न में एकलय से-एकनिष्ठा से और एकलय से सतत लगा रहता है, उसकी दूसरी प्रवृत्ति कम हो ही जायेगी ना। बोलना चलना कम हो जायेगा। (वैसे) अल्पभाषी होना। और जितना रस लेकर तू ज्यादा बोलेगा उतना प्रतिबंध दृढ़ होने वाला है।

लोकाचार तो ऐसा है कि school से लड़का आये तब उसके साथ बोलना चाहिये, नहीं बुलाने पर उसे बुरा लगेगा, ‘पापा! आप क्यों कुछ बोलते नहीं, क्या? घर में भी आप अगर नहीं बोलेंगे तो (कैसे चलेगा)? (आप तो) कुछ बोलते ही नहीं हो। ऐसा थोड़ी न कुछ चलता है?’ बहुत सी बातें खड़ी होगी इसमें। ‘अल्पभाषी होना’ इसमें बहुत सी बातें खड़ी होगी। लेकिन जो अपने काम में लगा हो, उसे सामने वाले को क्या लगेगा? यह बात कम हो जाती है। जब तक सामने वाले को कैसा लगेगा? यह बात अभिप्राय में मौजूद है तब तक वह प्रतिबंध छोड़ ही नहीं सकता। कुटुम्बीजन तो ऐसा कहेंगे कि ‘आपका धर्म बहुत स्वार्थ का है। हमें कैसा लग रहा है, यह आपको देखना ही नहीं इसका मतलब कि आपको सिर्फ अपना स्वार्थ ही देखना है।’ होता है कि नहीं होता? ‘ऐसा तो कोई धर्म होता है क्या? बस! सिर्फ अपना स्वार्थ देखे, दूसरे का तो कुछ देखते ही नहीं। सामने वाले का क्या होगा ये देखते ही नहीं।’ ऐसा है। स्वार्थ तो जरूर है लेकिन दूसरे के साथ व्यवहार में असद्व्यवहार करने का सवाल नहीं रहता। सद्व्यवहार है। व्यवहार, व्यवहार के स्थान में सद्व्यवहार रखता है, परंतु स्वयं अंदर से एकाकार नहीं होना, क्या? अंदर से मीठा लगे तो बात खत्म। तो लुट जायेगा। अंदर से भिन्न रहना चाहिये, फिर

बाहर में जो व्यवहारिक फर्ज है, वह तो एक नौकर भी निभाता है तो उसे स्वयं निभायें उसमें कहाँ बड़ी बात है? लागणी अलग चीज है, व्यवहार अलग चीज है। लागणी में आये तो प्रतिबंध नहीं छूटेगा। व्यवहार करने में कोई प्रतिबंध का सवाल नहीं है। (प्रतिबंध) छोड़ना मुश्किल लगेगा, लेकिन मुश्किल लगने पर भी एक बार तो (ढीला) होना चाहिये, करना ही होगा। इसके लिये कुछ एक फेरफार होते हैं तब अल्पभाषी होता है मुमुक्षु, कम बोले ऐसा बनना संभवित है। (बिल्कुल) नहीं बोले ऐसा नहीं, परंतु कम बोले, जरूरत जितना बोले, काम हो उतना बोले, क्या? इतनी बात है।

‘इसीलिये वहाँ अल्पभाषी होना...’ यानि कि बोलने में ज्यादा भाव नहीं दर्शाये। (यानि कि) जो आये हो उसके साथ उसे अच्छा दिखाने के लिये ज्यादा बोले, ऐसा कुछ नहीं करे-मर्यादा कर दे। जरूरत जितना-काम हो उतनी बात करनी है, बाकी मुझे मेरे काम में लगे रहना है।

‘अल्पहासी होना...’ (आत्महित की) गंभीरता आ जाती है तो अपने आप अल्पहासी हो जाता है। हँसना यह एक अगंभीर प्रवृत्ति है। परिणाम की जो प्रवृत्ति है उसमें अगंभीरता के कारण हँसना होता है। गंभीरता में वह बात नहीं रहती। जब स्वयं अपने काम में लगता है (तब उसे ऐसा लगता है कि मैंने) बहुत बड़ा काम हाथ में लिया है। बहुत बड़ा यानि? जगत में इससे बड़ा कोई काम है ही नहीं, इतना बड़ा काम हाथ में लिया है। निर्वाणपद जिसको लेना है, पूर्णता का लक्ष जिसने बांधा है, दृढ़ मुमुक्षुता है उसने कितने बड़े काम की जिम्मेदारी ली है। तो इसके अनुपात में इसकी गंभीरता आती है। यानि उग्र चाहे कितनी भी हो लेकिन यह एक समझ ऐसी है कि इसमें maturity बहुत आती है। वरना आदमी अगंभीर परिस्थिति में बात-बात में हँसता है। Maturity नहीं रहती। इसमें तो वह भी साथ-साथ आ जाती है। गंभीरता आने के साथ-साथ परिपक्वता बहुत आ जाती है। यह ‘अल्पहासी होना’ (का भाव है)।

‘...अल्प परिचयी होना...’ परिचय घटाना। सगे-संबंधियों में, मित्रों में, समाज में-जितने संबंध हैं (उनका परिचय कम कर देना)। संसार में लोग संबंध बढ़ाने के अभिप्राय वाले होते हैं। मोक्षार्थी जीव संबंध घटाने के अभिप्राय वाले होते हैं, क्योंकि दोनों की line ही पूरी विरुद्ध है। अतः जहाँ परिचय बढ़े ऐसे प्रसंग हो वहाँ स्वयं अनुपस्थित हो जाये, अनुपस्थित रहे। और इसमें सामने वाले को बुरा भी लगे-ऐसा बन सकता है। परंतु हमें तो हमारा लाभ उठा लेना है। (ऐसा वर्तन) दूसरों को नहीं सुहाता फिर भी मुझे परिचय बढ़ाना नहीं है। समाज में बढ़ाना नहीं है, सगे-संबंधियों में बढ़ाना नहीं है और वैसे भी ये परिचय बढ़ाने में पर पंचायती के अलावा दूसरा होता भी क्या है? ये तो देखो! जहाँ ज्यादा लोग इकट्ठे होते हो या किसी को भी आप मिलोगे तो आपको समाचार सुनने मिलेंगे। और स्वयं जैसे Information bureau खोलकर बैठा हो। दूसरे का जानने की उत्सुकता होती है, इसका क्या और उसका क्या? फलाने का क्या? कुछ लेना-देना न हो तो भी कौतुहलवृत्ति-जानने की इच्छा (रहा करती है)।

मुमुक्षु:- भाईश्री! जो (आत्मकल्याण का) एकलक्षी हो उसका संग तो अधिक करना चाहिये न?

पूज्य भाईश्री:- एकलक्षी यानि जो आत्मकल्याण की भावना वाला मोक्षार्थी जीव हो उसका परिचय करना। उसका परिचय करने की मना नहीं है। संसारियों का परिचय नहीं करना। शादी का प्रसंग आया, 'हमारे वहाँ party रखी है, इस कारण से दावत रखी है' इस कारण से, सबको मिलना-जुलना हो, अच्छा-अच्छा खाने को मिले, उस निमित्त से अच्छे कपड़े पहनना हो, उस निमित्त से अपना दिखाव बढ़िया हो, ऐसे-ऐसे अंदर में कितने ही कारण चलते हैं। ये सारे दरवाजे बंद हो जाते हैं। कहीं दिखाना नहीं है। (इसमें) सब दरवाजे बंद हो जाते हैं। तब ही उसे अपना (अंदर का) काम करने का अवकाश रहता है। वरना वहाँ सब जगह जाते रहेगा तो ऐसे प्रसंग में जाने से परिणाम में विक्षेप हो जाता है। इतना अधिक विक्षेप हो जाता है कि उसे स्वयं को मालूम नहीं रहता कि मैंने मेरा कितना बिगाड़ कर दिया। अब मेरी गाड़ी पटरी पर चढ़ने में कितनी मुश्किल खड़ी होगी। ये कुछ मालूम नहीं रहता और (अपने परिणाम को) विक्षिप्त कर देता है। इसीलिये 'अल्प परिचयी होना...' 'जिसको जैसा लगना है सो लगे। मैं अब मेरे काम में लगा हूँ। मुझे मेरा काम एकबार कर लेना है, वरना अचानक यहाँ से जाना पड़ेगा तब मेरा काम रह जायेगा।' (दूसरा) सब कुछ तो रह ही जाने वाला है, परंतु ये काम रह जायेगा इसका क्या? आखिर में तो सब छूटने ही वाले हैं।

अल्प परिचयी होने के लिये, 'अल्पसत्कारी होना...' (यानि कि) जैसे स्वयं को हर जगह जाना नहीं है वैसे सबको इकट्ठा करना भी नहीं है। ठीक है, अगर कोई अचानक आ जाये और हम हमारे गृहस्थी के योग्य व्यवहार करे, यह बात अलग है। परंतु 'आप क्यों नहीं आते हैं? आप आईयेगा और जरूर आईयेगा, क्यों नहीं आये? हमें बुरा लगेगा। आप नहीं आते हैं इसका हमें बुरा लगता है' ये सब तो छोड़ ही देना। कि आप नहीं आये तो हमें बुरा लगता है, कोई अगर न आये तो बुरा लगाने का सवाल नहीं रहता। क्योंकि उसमें नुकसान नहीं परंतु लाभ ही है। द्रव्य से और भाव से दोनों प्रकार से (लाभ ही है)। अतः 'अल्पसत्कारी होना...'

(कई लोग तो) बाहर गाँव होते हैं तो ऐसे ही पत्र लिखते हैं कि 'बहुत समय से आप नहीं आये, तो जरूर आईयेगा। ऐसी-वैसी काफी बातें लिखते हैं। लेकिन भाई! क्या काम है तुझे? तुझे तेरा काम है कि नहीं? लेकिन क्या करे दिखाव अच्छा करना हो, आबरू-कीर्ति का मोह हो, संबंधों में मिठास हो, फिर ऐसी ही प्रवृत्ति होगी न! और क्या होगा?

(आगे कहते हैं) 'अल्पभावना बताना...' अल्पभावना बताना। यानि कि बहुत आवकार नहीं देना, ऐसा कहते हैं। लगेगा, थोड़ा बुरा लगेगा कि ये भाई ज्यादा आवकार नहीं देते, परंतु कोई बात नहीं। अब ये सारे संबंध गाढ़ करने नहीं हैं। अब तो इसकी जो प्रगाढ़ता हो चुकी है उसे छोड़ने की बात है।

'अल्प सहचारी होना,...' (सहचारी होना माने) साथ में रहना। लोगों को कंपनी बिना नहीं पसंद आता, ये सब ठीक नहीं है। मोक्षार्थी जीवों का संग करो, सत्संग करो, इसमें कोई बाधा नहीं। परंतु संसारियों का संग ज्यादा करने जैसा नहीं है। अतः इन सारी प्रवृत्तियों का निषेध किया है कृपालुदेव ने।

‘अल्पगुरु होना,...’ देखो! बहुत सुंदर बात कही है! (कृपालुदेव ने ऐसा कहा है कि) उपदेश नहीं देना। थोड़ा-बहुत स्वयं समझा हो तो दूसरे को समझाने की मेहनत नहीं करना। मेरा बहुत काम बाकी है। कोई समझने के लिये आये तो उसे दूसरे को सौंप देना कि मेरे से ज्यादा वे समझते हैं, आप वहाँ जाईये। मेरा काम (समझाने का) नहीं है। मुझे (मेरा) बहुत काम बाकी है। इसके बजाय ‘अधुरा घड़ा छलकता है’ वैसे अभी तो थोड़ा समझा हो कि दूसरे को समझाने में लग जाता है! अभी तो स्वयं कल तक प्रश्न पूछता था समझने के लिये और आज दूसरे प्रश्न पूछने वाले को जवाब देने लग जाता है। ये सब नुकसान का व्यापार है। इसीलिये ऐसा भी नहीं करना।

‘...परिणामका विचार करना, यही श्रेयस्कर है।’ और इसका परिणाम क्या? इसका फल क्या? मुझे मुक्त होना है, मुझे अब बंधना नहीं है-ये परिणाम कैसे आये? वैसे परिणाम कैसे आये, परिणाम का विचार करना। बंधन के परिणाम, मुक्त होने के परिणाम का (विचार करना)। परिणाम माने फल। फल का विचार करना। अपने परिणामों के फल का विचार करना, ऐसा कहते हैं। और ये ही कल्याणकारी है। ‘...श्रेयस्कर है।’ अर्थात् कल्याणकारी है।

एक postcard में..छः पंक्ति का postcard है! कितनी सारी बातें भर दी हैं! कितनी सारी बातें भर दी हैं! समय हुआ है, यहाँ तक रखते हैं।

प्रवचन-2, दि. 28-11-1989

पत्रांक-332, भावनगर

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक-332, पृष्ठ-325। अंबालालभाई के ऊपर लिखा हुआ पत्र है। मुमुक्षु की यथार्थ भूमिका संबंधित ये पत्र का विषय है। 'आरंभ और परिग्रह का मोह ज्यों-ज्यों मिटता है, ज्यों-ज्यों तत्सम्बन्धी अपनेपन का अभिमान मंद परिणाम को प्राप्त होता है, त्यों-त्यों मुमुक्षुता बढ़ती है।' मुमुक्षुता किस प्रकार की है, यह एक बहुत शुरुआत की बात (यहाँ) करी है। जो आरंभ और परिग्रह में तीव्र रस आता है, और उसका कारण 'अपनत्व' है कि 'ये मेरा है, मुझे लाभ का कारण है, मुझे सुख का कारण है, मुझे अनुकूलता का कारण है'-ऐसा जो अपनत्व है और इस संबंधी इष्टपने का जो भाव है वह व्यामोह है-मोह है। यह परिणाम मंद हो, उसका रस मंद हो, इस तरह मुमुक्षुता वर्धमान हुआ करती है, ऐसा लिया है।

संसारी जीव जहाँ खड़ा है, जिनके बीच खड़ा है वहाँ वो तीव्र ममत्व करता है। और तीव्र ममत्व करता है वही उसे स्वयं की दिशा की ओर नहीं मुड़ने में प्रतिबंधक कारण है, अवरोधरूप कारण है। रोकता है कौन उसे? सामान्यतः किसी भी मुमुक्षु को पूछा जाये कि 'आत्मकल्याण करना है कि नहीं, भाई?' तो उत्तर ऐसा मिलेगा कि 'आत्मकल्याण तो करना ही है ना उसमें प्रश्न ही क्या हो सकता है कि आत्मकल्याण करना है कि नहीं करना है? आत्मकल्याण तो सभी को करना ही होता है।' परन्तु ऐसी इच्छामात्र से काम नहीं होता। स्वयं जहाँ खड़ा है, जिस स्थिति में खड़ा है, उन संयोगों में स्वयं कितना ममत्व करता है। अपनत्व कितना करता है, ममत्व करता है यानि अपनत्व का भाव कितना रखता है। ऐसे अपनत्व के परिणाम का रस मंद हो-ये परिणाम मंदता को प्राप्त हो तब मुमुक्षुता वर्धमान होती है। नहीं तो (जीव) एक ओर ममत्व करे, घर-दुकान पर जाकर तीव्र ममत्व करे और (दूसरी ओर) मंदिर में आकर पूजा, भक्ति, स्वाध्याय करे। हम तो दोनों करते हैं, आत्मकल्याण के लिये शास्त्र स्वाध्याय, पूजा-भक्ति, दया-दान करते हैं, और बाकी तो संसार में सब संसार के अनुरूप करना ही पड़ता है, करना भी चाहिये। करना पड़ता है यानि करना ही चाहिये, करने की फर्ज है।

मुमुक्षु:- शास्त्र ऐसा कहता है, भूमिका अनुसार राग-द्वेष तो होते हैं ना।

पूज्य भाईश्री:- भूमिका अनुसार तो राग-द्वेष होते हैं, यह भी शास्त्र कहते हैं और हमको भी हमारी भूमिका अनुसार होता है (ऐसा कहकर) अनुमोदन देता है। शास्त्रकार को अनुमोदन दिया। शास्त्रकार को अनुमोदन दिया है? शास्त्रकार तो ना कहते हैं। (वे ऐसा कहते हैं कि) इस भूमिका से तू आगे बढ़। तेरी जो मुमुक्षु की भूमिका है, वह भूमिका वर्धमान हो, मुमुक्षुता वृद्धिगत हो, उसके लिये राग-द्वेष होने का अनुमोदन अनुकूल नहीं है, वह तो प्रतिकूल परिणाम है। और ऐसा तो सब करते ही है। सामान्य रूप से संसार में साधारणतः हर कोई अपने-अपने संयोग में संग-प्रसंग में अपनत्व के ममत्वभाव से ही वर्तते हैं। और यदि मुमुक्षु भी ऐसा ही वर्तन करेगा तो दूसरे (संसारी में) और उसमें क्या फर्क रहेगा?

लिखा है न, एक शीर्षक दिया है न की आप और हम लौकिक परिणाम से प्रवर्तन करेंगे तो अलौकिक भाव से कौन परिणामन करेगा? (श्रीमद् पत्रांक) 322 में शीर्षक है, 'लौकिक दृष्टि से आप और हम प्रवर्तन करेंगे तो फिर अलौकिक दृष्टि से कौन प्रवर्तन करेगा?' फिर तो ये विषय कहीं नहीं है। आत्मा में आत्मत्व करना और आत्मा के अलावा अन्य पदार्थों में आत्मत्व नहीं करना, यह कार्य इस प्रकार अस्ति-नास्ति से करने का है। अथवा मुमुक्षुता वर्धमान होती नहीं, वर्षों चले जाते हैं फिर भी स्वयं वहीं का वहीं है, ऐसा जो लगता है, इसका कारण क्या है? कि अगर अवलोकन करे और जाँच करे तो उसको पता चलेगा कि मेरे संयोगों में अपनत्व करने में तो मैं कोई फेरफार करता नहीं हूँ। जिस जगह फेरफार करना चाहिये उस जगह तो मैं कुछ फेरफार नहीं करता हूँ और दूसरा सब कुछ करता था वह सब कर ही रहा हूँ। जैसे कि ये शास्त्र पढ़ता हूँ, पूजा-भक्ति करता हूँ, दया-दान करता हूँ, ये सब तो करता ही हूँ। लेकिन ये सब व्यर्थ जाता है। ये जो कुछ भी किया जाता है वह तो बहुत अल्प मात्रा में किया जाता है और चौबीस घंटे ममत्व के जो तीव्र रस के परिणाम हैं, वे तो इतने सारे करता है कि दोनों का हिसाब-किताब किया जाये तो (पूजा-भक्ति आदि के परिणाम) कुछ है ही नहीं। (ममत्व के परिणाम के) सामने टक्कर दे सके ऐसी कोई बात है ही नहीं।

मुमुक्षु:- ये बात तो स्मृति में भी नहीं रहती।

पूज्य भाईश्री:- कितनी तीव्रता होती है? इसका अर्थ यह हुआ कि (इस ममत्व के परिणाम में) कितनी तीव्रता आती है। समयसार में 38 वीं गाथा पूरी करने के बाद जयचंदजी ने कुछ एक बातें लिखी हैं। बात तो किसी दूसरे कारण से लिखी हैं परंतु (लिखते-लिखते) दूसरी बात की है कि यह नाटक समयसार है। नाटक के अंदर आठ रस होते हैं, शृंगार आदि। सबसे उत्कृष्ट रस तो शांतरस है। वह सर्व रस का राजा है। ऐसी सब चर्चा शुरू की है, नाटक शब्द को लक्ष में रखकर। उसमें से 'रस' की बात पर आ गये हैं-आठ रस और नौ रस, यह रस क्या है? (ऐसा कहकर) रस की परिभाषा की है। हमारे यहाँ भी ये प्रश्न उठता है कि रस किस गुण की पर्याय है? तो कहते हैं कि ज्ञान में जो ज्ञेय आता है, उस ज्ञेय में लीनता के-मग्नता के परिणाम ऐसे हो कि तब दूसरा सब विस्मृत हो जाये, दूसरी कोई इच्छा न रहे उसे रस के परिणाम कहने में आते हैं। ऐसी परिभाषा की है, क्या? अतः गुणभेद से विचार करे तो ज्ञान में कोई भी ज्ञेय आने पर, जानने में आने पर उस ज्ञेय के सम्बन्धित ऐसी लीनता के परिणाम उत्पन्न हो जाये, इतनी लीनता रहे कि जिसके कारण दूसरी इच्छा न रहे, जिसके कारण दूसरी इच्छा न हो, इसे रस कहते हैं।

हमारे यहाँ अवलोकन का मुख्य विषय यह है कि अपने रस का अवलोकन करना। ममत्व तो जब तक आत्मा में आत्मबुद्धि नहीं होती तब तक देहादि से लेकर सभी संयोगों में जीव को ममत्व होगा-अपनत्व हो जायेगा। (यह ममत्व) कितने रसपूर्वक होता है, इस पर इसका बलवानपना है। जितना रस तीव्र उतना उस परिणाम की शक्ति का बलवानपना, उस परिणाम में विशेष शक्ति है। परिणाम की शक्ति परिणाम के रस में होती है। तो वहाँ तीव्र रस होता है। और विभाव रस को (समयसार के) बंध अधिकार

में बंधतत्त्व नाम दिया है। नौ तत्त्वों में तत्त्वदृष्टि से, बंध के स्वरूप का विचार किया जाये तो विभावरस अथवा रागरस को बंध कहा है। क्योंकि वहाँ ऐसा बंधता है जीव, भाव से। भावबंध ले तो कि ऐसे रसवाले परिणाम में इसे दूसरी कोई स्मृति नहीं रहती। 'मैं आत्मा हूँ' और 'ज्ञायक हूँ' ऐसा हजार बार पढ़ा हो, सुना हो और विचार किया हो तो भी कहाँ चला जाता है, इसकी खबर भी नहीं रहती। कारण क्या है? कि (उस वक्त) यह रस तीव्र हो गया। पर में अपनत्व का रस तीव्र हो गया। पर में अपनत्व का अनुभव रस (अर्थात्) अनुभव कर रहे हैं, ऐसा रस तीव्र हो गया। ये रस मारता है आत्मा को, बसा

मुमुक्षु:- अवलोकन की बात अभी विचार में आये उसके पहले तो स्वयं बह गया होता है!

पूज्य भाईश्री:- इसीलिये तो बहुत जोर से (इस विषय) पर वजन आना चाहिये। जन्म-मरण का प्रसंग हो तो कितना गंभीर हो जाता है मनुष्य! एक मृत्यु का प्रसंग हो तो कितना गंभीर हो जाता है मनुष्य, इतनी गंभीरता तो आनी चाहिये इस विषय की। नहीं तो कुछ हाथ में बचे ऐसा नहीं होगा। उदय आया कि नहीं उलझकर अंदर डूब जायेगा, एकाकार हो जायेगा। क्योंकि उसी समय (रस) चालू हो जाता है, दूसरा समय नहीं लगता। ज्ञान में ज्ञेय आया उसी समय तीव्र रस के परिणाम हो जायेंगे, उसी समय उस रस में लीन हो जाता है, डूब जाता है। उसे दूसरा समय नहीं लगता उसी समय रस चालू हो जाता है, ऐसी परिस्थिति है।

मुमुक्षु:- रुचि और रस साथ में ही होते हैं क्या?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, रुचि और रस साथ में ही काम करते हैं। अविनाभावी होते हैं। (वैसे तो) अलग-अलग गुण की पर्याय है। रुचि श्रद्धा के भेद में जाती है, और रस ज्ञानपूर्वक चारित्र के भेद में जाता है। लेकिन तीनों (गुणों का) श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का एक साथ उल्टा काम जोर से चलता है, संसार दशा में।

यहाँ तो इतना ही लिया है श्रीमदजी ने 332 पत्र में कि 'आरंभ और परिग्रह का मोह ज्यों-ज्यों मिटता है...' ज्यों-ज्यों मोह मिटता है मतलब अपनत्व की पकड़ ढीली होती है यहाँ इतनी बात लेना। क्या? जिस पकड़ से आरंभ-परिग्रह के परिणाम में वर्तता है-प्रसंग में वर्तता है, उसकी पकड़ ढीली होती है कि ये मुझे नुकसान का कारण है, यही मुझे बंधन का कारण है, यही मुझे परिभ्रमण का कारण है बहुत बड़ा नुकसान इसमें रहा हुआ है। इस तरह जो उसे परिणाम में मंदता आये तो मुमुक्षुता की वृद्धि होती है। मुमुक्षुता की वृद्धि हो तो किसी एक स्थिति में ज्ञानदशा में प्रवेश होता है। लेकिन मुमुक्षुता ही न आये अथवा अल्प मुमुक्षुता हो और वहीं का वहीं पड़ा रहे, बहुभाग तो पीछे ही जाता है जीव। आगे जाने का प्रश्न हो तब तो बहुत अच्छी बात है पर लगभग तो जीव के परिणाम पीछे ही जाते है, ज्यों-ज्यों समय जाता है त्यों-त्यों।

यहाँ उपाय बतलाया है। मुमुक्षुता वर्धमान होने के लिये अथवा ज्ञानदशा में प्रवेश होने के लिये, अपने उदय के संग-प्रसंग में जो कुछ आरंभ-परिग्रह का प्रकार वर्तता है उसमें अपनत्व के परिणाम का

रस ठंडा हो जाना चाहिये। चाहे जितना लोग जिसे लाभ कहते हैं वो परिस्थिति खड़ी हो जाये तो भी उसी वक्त ऐसा विचार करे कि आत्मा में क्या आया? और चाहे जिस प्रकार से लोग जिसे नुकसान हो गया ऐसा कहते हैं की लूट गया ये मानस (उस वक्त यह देखना कि) मेरे आत्मा में से क्या गया? सीधा अवलोकन में आये और जाँच करे कि (मेरे में से) क्या गया? तो उसका जो रस है वह तीव्र नहीं होगा। और ज्यों-ज्यों ये मोह मिटता है यानि कि पकड़ ढीली होती है त्यों-त्यों मुमुक्षुता वृद्धिगत होती है।

संयोगों के ऊपर की पकड़ उतनी की उतनी तीव्र रहे और जो कुछ (धर्मसाधन) करे तो भी उसकी मुमुक्षुता में कोई फ़रक नहीं पड़ता, ऐसा कहना है। और यह अपनत्व का अभिमान '...अनंतकाल से परिचित यह अभिमान है।' इसका बहुत अनुभव है, परिचय है यानि बहुत गाढ़ प्रकार का सम्बन्ध है, इसका। प्रगाढ़ परिणाम है ये सब अभिमान के, अपनत्व के वो '...प्रायः एकदम निवृत्त नहीं होता।' इसकी practise करने की परिस्थिति पैदा होती है, लंबे काल तक इसकी practise होने पर, इसकी निवृत्ति होने की परिस्थिति आती है। ऐसे ही ऐसे सीधा (अभिमान) नष्ट नहीं होगा। '...प्रायः एकदम निवृत्त नहीं होता।'

‘इसीलिये तन, मन, धन आदि जिनमें ममत्व रहता है उन्हें ज्ञानी को अर्पित किया जाता है। दो प्रकार है, ज्ञानी के प्रति समर्पण में दो प्रकार हैं कि एक ज्ञानी की महिमा स्वयं को भासित हुयी है इसीलिये उनके प्रति समर्पणबुद्धि आती है। लेकिन स्वयं को ख्याल है कि ज्ञानी तो अपेक्षा रखते नहीं, स्पृह बिना के हैं। निस्पृह उनकी अंतरंग स्थिति है, तो समर्पण करने में क्या? (मुमुक्षु को लगता है कि) मुझे तो ममत्व मिटाना है कि नहीं? दूसरा पहलू ये है की मात्र समर्पण का सवाल नहीं है, मेरा जो अपनत्व इसमें है, मेरा जो अधिकार है, यह मुझे छोड़ना है तो इसीलिये भी समर्पण किया जाता है। इस तरह दो पहलू लिये हैं एक महिमा का कारण है ज्ञानी सम्बंधित और (दूसरा) स्वयं के सम्बन्ध में विचार करे तो स्वयं को उस पर जो अपनी पकड़ है वह ढीली करनी है। पकड़ वैसी की वैसी रखे और ज्ञानी की महिमा करे तो भी निष्फल जाता है, यह सब व्यर्थ जाता है। अतः दोनो साथ में, अस्ति-नास्ति से, और स्व-पर की दोनो दिशा में किस तरह कार्य करना, दोनों दिशाओं में किस तरह आगे बढ़ना यह बात है यहाँ।

मुमुक्षु:- धन के समर्पण को ही समर्पण कहा जाता है क्या?

पूज्य भाईश्री:- नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। तन, मन और धन ऐसा लिये हैं।

मुमुक्षु:- समर्पण करते वक्त वह विचार नहीं करता कि चलो देखे तो सही ये तन, मन, धन मेरे नहीं हैं।

पूज्य भाईश्री:- इस प्रकार से विचार करता है कि चलो धन का समर्पण करता हूँ लेकिन ये मेरा नहीं है, इस प्रकार से विचार करता है? विचार तो ऐसा करता है कि ये मेरा है उसमें से दे रहा हूँ। मेरा जितना है इसमें से अमुक अंश मुझे देना चाहिये। सब दे देंगे तो फिर हमारा कैसे चलेगा? इसीलिये

(जितना है) उसमें से थोड़ा तो हमें देना चाहिये। तो अपनत्व रखकर, इसमें से (स्वयं के लिये) थोड़ा निकालकर। यह कोई समर्पण करने का लक्षण नहीं है। समर्पणबुद्धि का ये लक्षण ही नहीं है, क्या?

मुमुक्षु:- फिर तो तन, मन, धन का समर्पण कैसे करना?

पूज्य भाईश्री:- तन, मन, धन का समर्पण का अर्थ यह है कि (उसमें से) अपनत्व छोड़ देना है। अपनत्व छोड़कर, जो सर्वस्व रूप है, स्वयं के सर्वस्व है-बाहर में ज्ञानी तो सर्वस्व हैं। और (ज्ञानी को) स्वयं को तो कोई अपेक्षा नहीं है, आवश्यकता नहीं है, जरूरत नहीं है तब तो ज्ञानी हुये हैं। ममत्व रखकर (ज्ञानी) हुये हैं या ममत्व छोड़कर हुये हैं? वे तो ममत्व छोड़कर ज्ञानी हुये हैं। वे तो मार्ग के प्रकाश हेतु तन, मन, धन का यदि कोई उपयोग होता हो तो वे सूचन करते हैं, निर्देश करते हैं। कि अनेक जीवों को आत्मकल्याण के मार्ग पर चढ़ने के कोई निमित्त प्राप्त हो, निमित्तों का सर्जन हो, तो वे मार्ग का निर्देश करते हैं कि ये करने जैसा है, यहाँ ये है तो यह करने जैसा है, ये करने जैसा है। होना ना होना ये कुदरत के आधीन है।

मुमुक्षु:- धन का समर्पण तो ख्याल में आता है लेकिन तन का और मन का समर्पण कैसे होता है?

पूज्य भाईश्री:- तन में (समर्पण में) तो स्वयं के मन, वचन, काया के योगदान का सवाल है। जैसे कोई कहता है कि मैं पैसे तो दे दूँ लेकिन मेरे पास वक्त नहीं है। मुझे धंधा-व्यापार के कार्य इतने सारे हैं कि आप चाहो तो पच्चीस-पच्चस हजार, लाख-दो लाख-पाँच लाख ले जाओ आप। इसमें मुझे कोई दिक्कत नहीं है, लेकिन मेरे पास समय नहीं है, मैं आ नहीं सकता। तो वहाँ उसके तन और मन दोनो ही काम नहीं करते है। तन-मन-धन तो तीन शब्द हैं, वास्तव में तो स्वयं पूरा-पूरा surrender होता है, क्या? ज्ञानी के चरण में गया वह पूरा-पूरा गया अधूरा नहीं गया। तन, मन, धन का मतलब पूरा का पूरा गया, ऐसा यहाँ (कृपालुदेव) कहना चाहते हैं, क्या? कि 'मेरी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं, आपके विकल्प अनुसार चलना है। फिर चाहे तन से कहो तो तन से, मन से कहो तो मन से और धन से कहो तो धन से (मैं तैयार हूँ)।'

मुमुक्षु:- ज्ञानी तो कुछ देने के लिये कहते नहीं है...

पूज्य भाईश्री:- ये तो अब आयेगा। इसके बाद का जो पत्र है, उसमें सत्पुरुष की पहचान जीव को नहीं होती, तो कैसे हो? 333 का पत्र ये ही है, क्या?

ये तो एक पहलू लिया कि जो आरंभ-परिग्रह में और संयोग में, प्रसंग में स्वयं (परपदार्थ) जो अन्य हैं, फिर भी अपनत्व रखकर प्रवृत्ति करता है वह दर्शनमोह सहित की पकड़ है, परपदार्थ के ऊपर तेरी ये पकड़ ढीली होनी चाहिये। दर्शनमोह मंद हुये बिना स्वरूप निश्चय नहीं होगा और उसका अभाव

हुये बिना अनुभव नहीं होगा। ये तो 203 नंबर का वचनामृत है पूज्य गुरुदेवश्री का (सोनगढ़ नंदीश्वर जिनालय में) संगमरमर में (उत्कीर्ण) किया हुआ है।

अतः ममत्व मिटाने के हेतु से (समर्पण करना है)। प्रायः जीव लोगों में दिखावा करने के लिये समर्पण करता है कि 'मैं दे रहा हूँ-मैं देने वाला हूँ-ऐसा लोग भी जाने।' इतना ही नहीं, कहीं पर ऐसा छल भी पकड़ता है कि 'इससे मुझे मेरी कोई प्रसिद्धि करनी नहीं है किन्तु दूसरों को प्रेरणा मिले इसीलिये मैं घोषणा करने के लिये कहता हूँ।' अन्दर दूसरी बात होती है, क्या? अरे भाई, यह कोई चालाकी करने का क्षेत्र नहीं है। बुद्धि की चालाकी करने का ये कोई क्षेत्र नहीं है यहा ये तो वक्र परिणाम हो गये। ये तो सरलता के परिणाम का मार्ग है, क्या? कि 'मैं कुछ समर्पण करूँ तो यह लोग जानकर मेरी विशेषता गिने' ऐसा तो होना ही नहीं चाहिये। 'देने का प्रसंग है, दिया जाता है, फिर भी इससे मेरी महत्ता लोगों में नहीं होनी चाहिये, क्योंकि (जिनकी) महानता हो उनकी महानता गिनी जाये तो वाजिब है, मेरे में तो अभी ऐसी कोई महानता आयी नहीं। लोगों की नजर में बड़प्पन गिना जाये ऐसी कोई मेरी स्थिति है नहीं। मेरे आत्मा की ऐसी कोई स्थिति है नहीं।' इस तरह (सरल परिणामी जीव) सीधा ले तो बचता है। इसके बजाय लोकसंज्ञा पहले ही खड़ी हो गयी हो (तो कहाँ से बचेगा)? अतः अपनत्व मिटाने हेतु (समर्पण होना चाहिये)।

अपनत्व को यहाँ अभिमान कहा है। 'अपनत्व का अभिमान' कहा है। क्योंकि वहाँ अस्तित्व स्थापित करता है न, अस्तित्व नहीं है फिर भी वहाँ अस्तित्व स्थापित करता है कि 'ये मेरा है' इसीलिये अभिमान ऐसा लिया है। इस अभिमान के त्याग हेतु ज्ञानी के प्रति समर्पण किया जाता है। प्रायः ज्ञानी इसे ग्रहण करते नहीं। ज्ञानी तो निस्पृह है इसीलिये इसे ग्रहण नहीं करते। 'परन्तु उनमें से ममत्व को दूर करने का ही उपदेश देते हैं;...' (वे ऐसा ही कहेंगे कि) भाई, इसमें से ममत्व छोड़ने जैसा है। मुझे कोई जरूरत नहीं है, हमने तो दूसरा रास्ता पकड़ा है परंतु आप भी ममत्व छोड़कर ये रास्ते पर आओ। सिर्फ 'इस रास्ते पर आओ!' इतना ही नहीं परन्तु ममत्व छोड़कर इस रास्ते पर आओ। अपनत्व मिटाकर इस रास्ते पर आओ, ऐसा उपदेश देते हैं। '...और करने योग्य भी यही है...' जो ज्ञानी कहते हैं वही करने योग्य है (कर्तव्य है), अपनत्व मिटाने योग्य है।

'...कि आरंभ-परिग्रह को वारंवार के प्रसंग में...' यानि जो-जो उदय के प्रसंग बार-बार आते हैं, (उन प्रसंगों में) '...आरंभ-परिग्रह को वारंवार के प्रसंग में पुनः पुनः विचार करके उनमें ममत्व न होने दे;...' देखो, कैसी भाषा ली है! '...करने योग्य भी यही है कि आरंभ-परिग्रह को वारंवार के प्रसंग में...' (अर्थात्) जो-जो प्रसंग आये उसी वक्त अवलोकन करे कि इसमें अपनत्व का भाव क्यों चल रहा है? किस तरह चल रहा है? कितने रस से चल रहा है? उसमें मैं नहीं हूँ फिर भी अहंपने का, अपनत्व का, मेरापाना का भास्यमान होना ऐसा ज्ञान में क्यों हो रहा है? ये ज्ञान ऐसी भ्रमणा क्यों कर रहा है? उसी वक्त पकड़े। अपने में उदय के वक्त जो अपनत्व हो रहा है उस भाव की जाँच करना। जाँच करना यानि क्या, अवलोकन करना यानि क्या? कि ऐसा क्यों हुआ? आत्मा, आत्मा में है, जानना-सिर्फ जानना

इतना ही इसका स्वरूप है, जहाँ मैं नहीं हूँ वहाँ मेरा, 'ये मेरा' ऐसा क्यों दिखा? (दृष्टान्तरूप से) ये परिवार है, इसके सदस्यों का ज्ञान में ज्ञेयपना होता है। (उसमें) 'ये मेरा' ऐसा क्यों लगा? उसी वक्त पकड़े। इसमें अपनत्व का भाव क्यों हुआ? ज्ञान में यह भ्रान्ति क्यों हुयी? कैसे हुयी? इसमें क्या कारण है? (इतना देखेगा तो) रस की पकड़ में फर्क पड़े बिना रहेगा नहीं। उसी वक्त यह practise चालू करे तो इसकी पकड़ में फर्क पड़े बिना रहेगा नहीं। और अंदर से ऐसा फर्क पड़े बिना सब कुछ कर ले, चाहे कुछ भी नहीं! सब कुछ कर ले, इसमें चाहे सब कुछ कर ले इसका कोई अर्थ नहीं है।

मुमुक्षु:- तीव्र उदय के वक्त भी ऐसा कर सकते हैं?

पूज्य भाईश्री:- तीव्र उदय किसको कहना है? भाव का कहना है या प्रसंग का कहना है?

मुमुक्षु:- उदय के वक्त खयाल भी नहीं आता है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, मतलब भाव में तीव्रता आ गयी न, तब तो स्वयं भूल जाता है। तीव्रता आती है तब भूल जाता है परंतु भूल जाता है वह लंबे समय तक भूल जाता है? अब हम इसके पृथकरण में जायेंगे, analysis करेंगे परिणाम का, क्या? कि किसी को तो (पूरा प्रसंग) ऐसे ही ऐसे चला जाता है, डूब जाता है पूरा का पूरा। फिर जब भाव मंद होते हैं तब विचार आता है और किसी ने ऐसा विचार कर रखा हो कि परिणाम की तीव्रता के कारण अगर ये भूल गये तो बहुत बड़ा नुकसान है, तो कोई तत्क्षण जागृत होता है, तो कोई थोड़ी क्षण पश्चात् जागृत होता है, तो कोई थोड़ी मिनिटों के बाद जागृत होता है। ऐसा बनता है कि नहीं बनता है? तो यह तो जितनी स्वयं की जागृति इतनी मुमुक्षुता है। मुमुक्षुता कितनी? कि जितनी स्वयं की जागृति। यदि जागृति नहीं हो तो मुमुक्षुता नहीं है, ऐसा मानना क्या? जितनी जागृति इतनी मुमुक्षुता है, सीधी बात तो ये है।

मुमुक्षु:- जागृति आने के पश्चात् कार्यसिद्धि होगी, ऐसी guarantee है?

पूज्य भाईश्री:- अवश्य होगी, अवश्य होगी, हुये बिना रहेगी नहीं। सीधी बात है, इसका अर्थ क्या हुआ? कि उदय तीव्र आया और भाव में भी तीव्रता हो गयी। वह तो उसका दुश्मन है न, तो दुश्मन को मारा यही कार्यसिद्धि है। और दूसरी कार्यसिद्धि कहाँ लेने जानी है? उस वक्त तो यही कार्यसिद्धि है। खाली बैठा हो, शास्त्र पढ़ता हो तब करना विचार करे कि शरीर में ममता करना नहीं, अपनत्व करना नहीं, आरंभ-परिग्रह में अपनत्व करना नहीं, लेकिन उस वक्त तेरे सामने कहाँ कोई (उदय) लड़ने आया है? तब तो हवा में लाठी घूमाता है। परन्तु मारने के लिये आये तब लाठी घूमने की जरूरत है। सामने लड़ाई के वक्त लाठी घूमायेगा तो बच सकेगा। बाकी घर में बैठे-बैठे लाठी के दाँव-पेच करे, वह कोई उस समय लाभ का कारण नहीं होता। ठीक है, थोड़ी practise होगी। लेकिन वास्तव में जब इसकी जरूरत हो तब इसका उपयोग नहीं हो सके तो सीखा हुआ बेकार है। लाठी घूमना तो सीख लिया लेकिन मारने आया तब मार खाया। तो वह कोई वास्तविक रूप से नहीं सीखा। क्योंकि जरूरत तो उसी वक्त होती है, उदय के वक्त ही जरूरत होती है।

...यहाँ ये नहीं कहते कि तू शास्त्र पढ़कर आरंभ-परिग्रह में अपनत्व नहीं है, ऐसा विचार करते रहना। ऐसा यहाँ श्रीमद्जी नहीं कहते हैं। क्या कहते हैं? कि '...आरंभ-परिग्रह को वारंवार के प्रसंग में...' जब प्रसंग आये तब तू ऐसा करना, ऐसा कहते हैं। तुझे फुर्सत मिले, निवृत्ति मिले तब घंटा-दो घंटा शास्त्र लेकर बैठना और उस वक्त विचार करना कि 'मैं आत्मा ज्ञायक हूँ, देहादि कोई संयोग मेरे नहीं हैं' ऐसा नहीं कहते, क्या? (सिर्फ) स्वाध्याय करना ऐसा नहीं कहते हैं। जब प्रसंग आये तब तू बराबर इसका सामना करा उस प्रसंग में विचार करके उसमें अपनत्व न होने दे। अब, अपनत्व कौन नहीं होने देगा? (कि जो मुमुक्षु जागृत होगा वह नहीं होने देगा)

'आरंभ-परिग्रह को वारंवार के प्रसंग में पुनः पुनः विचार करके उनमें ममत्व न होने दे; तब मुमुक्षुता निर्मल होती है।' यह इसका फल है। यदि ममत्व नहीं होने दे तो मुमुक्षु की भूमिका में निर्मलता आती है। अपनत्व का रस अथवा दर्शनमोह का रस मंद होता है, तब जो निर्मलता आती है वह प्रथम ज्ञान में निर्मलता आती है। तब जीव अपने स्वरूप का यथातथ्य निश्चय कर सकता है, भास्यमान कर सकता है। वरना जीव उघाड़ ज्ञान में तो समझ लेता है कि आत्मा ऐसा है, आत्मा वैसा है... अनंत गुण का समूह है, असंख्य प्रदेशी है...ऐसा है, वैसा है...(ये सब समझ तो लेता है किन्तु) पर उस विषय में उसे कुछ (भास्यमानप ना) लगता नहीं, क्योंकि निर्मलता नहीं है। (परपदार्थ में अपनत्व नहीं होने देता हो) तब मुमुक्षुता निर्मल होती है। (जिसकी) मुमुक्षुता निर्मल हो वह मुमुक्षु आगे बढ़कर ज्ञानदशा में प्रवेश कर सकता है। यदि मुमुक्षुता में ही निर्मलता न हो, मलिनता हो तो ज्ञानदशा आने का अवसर नहीं है।

...इसीलिये तो ये खोल-खोलकर बात करते हैं कि स्वयं मिलान कर सकता है। अपनी दशा के साथ मिलान करने के लिये तो सब बातें हैं। शास्त्र में जितनी दशा सम्बन्धित बातें हैं वह मिलान करने के लिये हैं। स्वयं अपने आत्मलक्ष से, आत्महित के लक्ष से मिलान करे और स्वयं जहाँ भूल करता हो वहाँ बराबर अपनी practice चालू कर दे कि इस जगह मेरी भूल होती है, इस प्रसंग में मेरी भूल होती है, इस कारण से मेरी भूल होती है, ऐसा लगने से मेरी भूल होती है, (भ्रांतिगतरूप से) इस तरह सुख लगता है, इस तरह शांति लगती है, इस तरह लाभ हुआ लगता है, इस तरह कोई न कोई प्रकार तो खड़ा होता ही है परिणाम में। ये 332 पत्र पूरा हुआ।

प्रवचन-3, दि. 01-01-1997

पत्रांक-510 (1), बांधणी

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्र-510। 'श्री स्थम्भतीर्थ स्थित शुभेच्छासंपन्न श्रीत्रिभुवनदास के प्रति यथायोग्यपूर्वक विनती कि-' खंभात के त्रिभुवनदास जो मुमुक्षु थे, उन पर यह पत्र लिखा है। पत्र त्रिभुवनदासभाई के प्रति लिखा है परन्तु सभी मुमुक्षुओं को यह पत्र का मार्गदर्शन प्रयोजनभूत है। लागू पड़े ऐसा होने से प्रयोजनभूत है। मार्गदर्शन ज्ञानियों का अनेक प्रकार का होता है और शास्त्र का उपदेश भी अनेक विध-अनेक प्रकार से चला है। उन सब में हमारे लायक बात कौन सी है? हमारी भूमिका में हमको लागू पड़े और हम इसका सदुपयोग करके वर्तमान स्थिति से एक कदम भी आगे बढ़ें, कम से कम इतना लक्ष रहे तो ये पढ़ना-सुनना सार्थक है। वरना कितना भी पढ़ा जाये, सुना जाये निरर्थक है।

बहुत अभ्यास करने वाले को भी अगर इस प्रकार का लक्ष नहीं रहा तो ये सब पढ़ाई बेकार समझना। मेरा प्रयोजन कहाँ है? उसकी खोज, उसकी जिज्ञासा, वह दृष्टिकोण साध्य करके शास्त्र का स्वाध्याय होना चाहिये। अगर इस प्रकार से शास्त्र का स्वाध्याय नहीं रहा तो ये स्वाध्याय, स्वाध्याय ही नहीं रहेगा। चाहे विद्वता आ जायेगी, चाहे पंडिताई भी आ जायेगी लेकिन अपने में कुछ सुधार नहीं होगा।

इस पत्र लेने का खास कारण यह है स्वाध्याय में कि इसमें जो बातें हैं, वे हम लोगों की भूमिका की हैं और सभी को लागू पड़े ऐसी हैं।

'बंधवृत्तियों का उपशमन करने के लिये और निवर्तन करने के लिये जीव को अभ्यास, सतत अभ्यास कर्तव्य है, क्योंकि विचार के बिना और प्रयास के बिना उन वृत्तियों का उपशमन अथवा निवर्तन कैसे हो?' बंधवृत्ति यानि क्या? जहाँ-जहाँ जीव की वृत्ति प्रतिबद्धता को प्राप्त होती है, उसको बंधवृत्ति कहते हैं। प्रतिबद्ध यानि क्या? राग से, द्वेषसे, किसी भी मोह से (या) किसी भी परिणाम से आत्मा वहाँ रुक जाता है। प्रतिबद्ध होता है यानि, बद्धता को प्राप्त होता है, बंधन को प्राप्त होता है, पराधीन होता है, दीनता को प्राप्त होता है, यानि रुक जाता है। ऐसी जो जीव की वृत्ति है, वृत्ति यानि परिणामन है। उसका उपशमन करने के लिये, उपशमन यानि उसका रस ठंडा करने के लिये। उपशम का अर्थ क्या है? नीरस होना। रस नीरसता (को प्राप्त) हो जाये (उसे उपशम कहते हैं)।

बाहर जो परिणाम जाते हैं, जिन-जिन पदार्थ पर जाते है, पंचेन्द्रिय के विषय है और भी कई प्रकार के (जैसे) सम्पत्ति, परिवार, सत्ता, अधिकार ऐसे अनेक प्रकार के जो (पदार्थ) होते हैं, जिसको जैसा उदय हो, वहाँ जीव को रस आता है, वह नीरस हो जाना चाहिये। इस प्रकार का अभ्यास होना (चाहिये)। या तो उसका निवर्तन यानि नाश कर देना, ऐसे परिणाम हो ही नहीं। पहले रस ठंडा होता है, ये क्रम है फिर उसका नाश होता है। इसीलिये या तो रस ठंडा नहीं किया हो तो रस ठंडा करो। रस ठंडा किया हो तो उसका नाश करो। (फिर रस) उत्पन्न ही नहीं हो। यह इसका क्रम है।

‘बंधवृत्तियों का उपशमन करने के लिये और निवर्तन करने के लिये जीव को अभ्यास, सतत अभ्यास कर्तव्य है’... अभ्यास यानि practise, प्रयास। उस प्रकार का सतत प्रयास करना चाहिये। बार-बार करना, इसीलिये उसको अभ्यास कहते हैं। अभ्यास यानि बार-बार प्रयत्न करना।

मुमुक्षु:- इस वाक्य में मंद-वृत्ति का उपशम? मंदवृत्ति भी....

पूज्य भाईश्री:- मंद-वृत्ति नहीं, बंध-वृत्ति। बंधवृत्ति, मंद नहीं। बंधवृत्ति का उपशम या निवर्तन हो, ऐसा प्रयास बार-बार करना चाहिये, सतत करना चाहिये।

मुमुक्षु:- निवर्तन यानि क्या?

पूज्य भाईश्री:- नाश करना। निवर्तन यानि नाश करना, निवृत्ति करना, अभाव करना।

‘क्योंकि विचार के बिना और प्रयास के बिना उन वृत्तियों का उपशमन अथवा निवर्तन कैसे हो?’ पहले उस संबंधी विचार करना चाहिये कि ये मुझे नुकसान करती है, मुझे दुःखदायक है, आकुलता कराती है। इसीलिये अगर इसका रस ठंडा होगा (तो) आकुलता का पारा नीचे आयेगा। या उसका नाश कर देगा। इसका विचार भी करना चाहिये। प्रयास विचार-पूर्वक होता है। जो लोग इसका विचार नहीं करते हैं, उनको तो रस ठंडा होने का कोई अवकाश नहीं है, नाश होने का भी कोई अवकाश नहीं है। इसीलिये विचारपूर्वक प्रयास करना चाहिये।

‘कारण के बिना किसी कार्य का होना संभव नहीं है।’ कोई कार्य होता है, उसके पहले इसका कोई कारण होता है। कारण बिना कोई कार्य नहीं होता। यह कार्य का विज्ञान है-science है। कोई भी result आता है, तो उसके पीछे कोई कारण खड़ा रहता है। बिना कारण कार्य नहीं होता। जैसे हम मनुष्य हुये, तो इसका भी कोई कारण है। मनुष्य तीन प्रकार के हैं-स्त्री, पुरुष और नपुंसक तो इनके भी कारण हैं। मनुष्य मायावी भी होते हैं और सरल भी होते हैं तो इसका भी कारण है। क्रोधी भी होते हैं और शांत भी होते हैं तो इसका भी कारण है। उदार भी होते हैं और लोभी होते हैं तो इसका भी कारण है। हर कार्य का कारण होता ही है। कारण बिना कार्य नहीं, यह एक वस्तु का विज्ञान है-science है।

‘कारण के बिना किसी कार्य का होना संभव नहीं है, तो फिर यदि इस जीव ने उन वृत्तियों का उपशमन अथवा निवर्तन का कोई उपाय न किया हो तो उनका अभाव नहीं होता, यह स्पष्ट संभव है।’ ये बंधवृत्ति दुःखदायक है जीव को बंधन में, जेल में, कैदखाने में डालती है। ये सब (शरीर) कैदखाना हैं। मनुष्य देह, तिर्यच का देह, कुत्ते का शरीर मिलता है, सर्प का शरीर मिलता है, बैल का शरीर मिलता है। ये (सब) क्या है? सब कैदखाना है। अलग-अलग grade की जेल है ये।

अनुभवप्रकाश में दीपचंदजी साहब लिखते हैं कि देखो! तुम कैसे-कैसे कैदखाने में गये अभी तक। क्या? कभी छिपकली बना, कभी कुत्ता बना, कभी क्या बना, कभी क्या बना देखो। ऐसा कहकर के एक taunt लगाया है कि तुम्हें शर्मिंदा होना चाहिये। ऐसे-ऐसे भव में बार-बार जायेगा। अगर तुम इस

बात को समझकर के अपने परिणाम में सुधार नहीं करोगे तो ये शर्म-जनक भव हैं, वह बार-बार तुमको मिलेगा। तुम्हें शर्म नहीं आती है? ऐसे भव धारण करने में तुम्हें शर्म नहीं आयेगी क्या? ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु:- अभी तक वास्तविक उपाय नहीं किया?

पूज्यश्रीभाईश्री:- नहीं किया है। वास्तविक उपाय किया नहीं, सच्चा उपाय किया नहीं, झूठा उपाय किया है और झूठा उपाय करके भी उपाय करने का अभिमान किया है। कि 'मैंने ये किया, (मैंने) वह किया, इसका त्याग किया, उसका त्याग किया' उसका अहंभाव किया है। दान दिये तो पैसे दे दिये, उसका भी अभिमान किया।

अन्य मत जैसे अन्य मत में भी इतनी बात आती है, कि तुम कोई अच्छा कार्य करो तो इसके फल की वांछा मत करो। गीता में आता है 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'।

जैनमत में तो इससे बड़ी अच्छी बातें हैं कि किसी भी प्रकार के बदले के परिणाम नहीं होना चाहिये। कि 'ऐसा करेंगे तो ये मिलेगा...ऐसा करेंगे तो ये मिलेगा'। या पैसे देंगे तो मान मिलेगा चलो, (ऐसा भी नहीं होना चाहिये)। बहुत कड़ा निषेध है हमारे शास्त्रों में, इन बातों का। दान कोई मान पोषण हेतु नहीं दिया जाता। फिर भी आज हमारे तीर्थ में हम देखते हैं तो एक-एक सीढ़ी पर, एक-एक चौकी पर, पंखे की एक-एक पंख पर नाम लिखा है। और कभी तो दो-दो, तीन-तीन नाम (लिखे होते हैं)। 'फलाना...फलाना की धर्मपत्नी फलानी...फलानी...' क्या हो गया है, मालूम नहीं पड़ता। (ऐसा करने से) पाप बंध होता है, दान देने के बदले में वहाँ पाप बंध होता है मान का। उतनी भी समझ चली गयी आज। अभ्यास नहीं होने से तत्व का, उतनी भी समझ चली गयी।

(1996 के) मई महीने में माउन्ट आबू गये शिबिर में, वहाँ प्रजापिता ब्रम्हाकुमारी ईश्वरीय विश्व विद्यालय का headquarter है, center है, main center है। करोड़ों रुपयों का खर्च किया है। कितना? करोड़ों रुपयों का खर्च किया है (लेकिन) एक जगह भी किसी का नाम नहीं है कि इसका एक्कावन रुपया मिला है या इसका एक्कावन लाख मिला है। दो में से किसी का नाम नहीं है। ना एक्कावन वाले का नाम है ना एक्कावन लाख वाले का नाम है।

मुमुक्षु:- काम्बेर दादा भगवान में भी ऐसा ही है, no name.

पूज्य भाईश्री:- हाँ, किसी का नाम नहीं है (वहाँ)।

पहले सोनगढ में ऐसा था, जब तक गुरुदेव बिराजते थे। सोनगढ में पैसे आये (भी) किसी का नाम नहीं था। कहीं भी नाम नहीं था। आज-कल थोड़ा चालू हो गया है। जैसे काल जाता है, विकृति आती रहती है। नाम की condition से दान लिया ही नहीं जाता। कोई बोले कि इतना हम देंगे, हमारा उधर नाम रखो। 'वो बात मत करो। देना हो तो दो, नहीं देना हो तो मत दो।' मान का पोषण हम

आपको करायेंगे नहीं। इसमें क्या है? आपको मान का पोषण करना है तो भी इसका अनुमोदन हम करेंगे नहीं। ऐसी बात है उसमें।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- अन्य मत में इतनी discipline है, ये अन्य मत के हैं। ईश्वरकर्ता को मानने वाले हैं, ब्रह्माकुमारी वाले लेकिन एक जगह भी नाम नहीं है, किसी का भी नाम नहीं है। एक और जगह भी ऐसा देखा था किसका देखा था? किसी का भी नाम नहीं था, एक तो Abu में देखा, दूसरे...London में देखा, London में सहजानंद स्वामीनारायण का बहुत बड़ा temple है। इतना अच्छा बनाया कि 'Guinness book of world record' में इसका नाम आया। (मंदिर बनाने में) करोड़ों रुपये डाले हैं, किसी का नाम नहीं है। इतना dedication है। किसी का नाम नहीं है, करोड़ों रुपये का लागत हैं। लंदन में तो जगह भी इतनी कीमती है। (मंदिर के अंदर) बहुत quality चीजों का उपयोग किया है। एक व्याख्यान hall बनाया है, पाँच हजार आदमी बैठे ऐसा। Centrally air-conditioned (वातानुकूलित) है और कोई खंबा नहीं है, no pillars और wall to wall costly गालीचा, carpet लगाया है, simple carpet नहीं, इतना बड़ा (carpet)। पैर पोंछने से लेकर के, उसके toilet room से लेकर के सब चीज साफ-सुथरा, clean, एकदम neat and clean और दस-बीस कदम पर स्वयंसेवक खड़े रहते हैं guide करने के लिये-इधर जाईये, इधर से जाईये, उधर से जाईये। शांत...शांत...शांत...वातावरण (था)।

मुमुक्षु:- वहाँ कोई paid servant (तनखादार आदमी) नहीं है।

पूज्यश्रीभाईश्री:- कोई paid servant (तनखादार आदमी) नहीं है। सब अपने भक्त लोग ही सेवा करते हैं। Volunteers सब, गृहस्थी लोग ही सेवा देते हैं। कोई नौकर नहीं, उधर भी कोई नौकर नहीं, ब्रह्माकुमारी में भी कोई नौकर नहीं है।

मुमुक्षु:- २० दिन आयेंगे, २५ दिन आयेंगे...

पूज्य भाईश्री:- सब सेवा देते हैं अपनी-अपनी। ये लोग जैनियों से भी आगे निकल गये हैं। उपदेश, तत्त्वज्ञान (जैसा) जैन धर्म में है विश्व में इसको कोई compare नहीं कर सकता। Beat करने का तो सवाल ही नहीं है (लेकिन) कोई compare नहीं कर सकते हैं। इतने ऊँचे स्तर का है। लेकिन बाहर में स्तर गिर गया है। उन लोगों के पास वो चीज नहीं है। जो चीज हमारे घर में है, वह चीज उन लोगों के घर में नहीं है। लेकिन गुण की बात तो कहीं से भी लेनी चाहिये। अगर हम गुणग्राही हैं तो गुण की बात तो कहीं से भी लेनी चाहिये।

मुमुक्षु:- कई जगह मूर्ति के नीचे भगवान के नाम के बदले, किस ने मूर्ति दी है उसका नाम लिखते हैं।

पूज्य भाईश्री:- लिखते है...

(यहाँ) क्या कहते हैं? कि 'उन वृत्तियों का उपशमन अथवा निवर्तन का यदि कोई उपाय नहीं किया जाये तो उनका अभाव नहीं होगा। यह बात स्पष्ट सम्भवित दिखती है।' कई बार पूर्वकाल में वृत्तियों का उपशमन तथा निवर्तन का जीव ने अभिमान किया है। मैं त्यागी हो गया, मैंने ऐसा छोड़ दिया, ये कर दिया, वह कर दिया, व्रत ले लिया, नियम कर लिया, वह सब अभिमान किया है। (आत्मसिद्धि में आता है) 'ग्रहयु स्वरूप न वृत्तिनु, ग्रहयु व्रत अभिमान, ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक माना' परमार्थ यानि आत्मकल्याण को तो ग्रहण नहीं करता। लोगों में मान मिलेगा-ये तपस्वी हैं, ये व्रतधारी हैं, ये दानवीर हैं, वो हैं, वो हैं...। जीव ने (इस प्रकार का) अभिमान पूर्वकाल में किया है। 'परंतु वैसा कोई साधन नहीं किया...' आत्मकल्याण हो ऐसा कोई साधन नहीं किया।

'और अभी तक जीव उस प्रकार का कोई उपाय नहीं करता; अर्थात् अभी उसे उस अभ्यास में कोई रस दिखायी नहीं देता।' पूर्वकाल में कुछ किया नहीं आत्मकल्याण का प्रयास और अभी भी उसको आत्मकल्याण में रस नहीं है। 'तथा कटुता लगने पर भी उस कटुता की अवगणना कर यह जीव उपशमन एवं निवर्तन में प्रवेश नहीं करता।' वो कड़वा लगता है, आत्मकल्याण का मार्ग अच्छा नहीं लगता। लेकिन भले ही अच्छा नहीं लगे, भले ही थोड़ा कठिन लगे। (आत्मकल्याण) करना ही है ऐसा जीव निर्धार करके प्रवेश नहीं करता।

'यह बात इस दुष्टपरिणामी जीव के लिये वारंवार विचारणीय है...' यह बात बार-बार विचार करने योग्य है, गौण करने योग्य नहीं है, उपेक्षा करने योग्य नहीं है। 'किसी प्रकार से विसर्जन करने योग्य भी नहीं है।' यानि उपेक्षा करने योग्य नहीं है कि चलो, छोड़ो बाता अपने से नहीं होगा। ऐसा आत्मकल्याण मेरे से नहीं होगा, ऐसा कभी भी गलत निर्धार का आड़ लगाना नहीं। ऐसी आड़ मत लगाना कभी कि मेरे से नहीं होगा। क्या करूँ? मेरे से नहीं हो सकता है, ऐसा कभी नहीं लेना। क्यों नहीं होता मेरे से? ऐसे लेना। होना ही चाहिये। क्यों मैं नहीं कर सकता? जब दूसरे कर सकते हैं तो मैं क्यों नहीं कर सकता?

देखिये, अभी तक अनंत जीव सिद्धालय में पहुँचे कि नहीं पहुँचे? वे सब, एक भी सिद्ध परमात्मा का जीव ऐसा नहीं है कि जो पहले संसारी हम जैसे नहीं थे। सब सिद्धात्माओं ने सिद्ध होने के पहले अनंत काल चारों गतिओं में परिभ्रमण किया। पंच परावर्तन सबका अनंत बार हो चुका।

मुमुक्षु:- पहले (सिद्ध भगवान) कौन हैं?...

पूज्य भाईश्री:- नहीं, एक भी (सिद्ध) पहले नहीं हैं। पहला कोई नहीं है और अंतिम भी कोई नहीं है। कोई पहले (number में) नहीं आयेगा और कोई अंतिम (number में) नहीं आयेगा। और वहाँ कभी संख्या नहीं थी और पहले (सिद्ध भगवान ने) प्रवेश किया, ऐसा नहीं है। अनंत काल पहले अनंत (सिद्ध) थे, इसके अनंत काल पहले अनंत थे। ये थोड़ा beyond mathematics का विषय है। अंकगणित के बाहर का विषय है। यह अंकगणित के बाहर का विषय भी जैन दर्शन के अलावा कहीं नहीं है। अनादि अनंत

है, अनंत का (भी) अनंत भेद। अनंत का कितना भेद? अनंत का अनंत भेद, असंख्य का असंख्य भेद। ये beyond mathematics है, उसको under mathematics लेना तो पता नहीं चलेगा इस बात का। कोई भी संसारी नहीं थे और सिद्ध हुये, ऐसा एक भी (जीव) नहीं, क्या? पहले संसारी नहीं थे और सिद्ध पहले से थे, ऐसा एक भी (जीव) नहीं है। सभी संसारी थे। और जितने भी सिद्ध हुये अनंतानंत वे संसारी में से ही सिद्ध हुये हैं। जब अनंत हो सके हैं तो मैं क्यों नहीं हो सकता? (मैं भी) हो सकता हूँ, ऐसे ही लेना। 'मैं नहीं हो सकता' ऐसे pessimist, निराशावादी कभी भी होना नहीं है। Optimist रहना है, आशावादी रहना। कभी भी निराशावादी नहीं रहना।

क्यों? कि हर आत्मा में-सभी में, मेरे में, आप में सभी में अनंत शक्ति है। शक्ति कितनी है? संख्या से भी अनंत हैं और एक-एक शक्ति का power भी बेहद है। जिसकी कोई हद नहीं-सीमा नहीं बेहद है। जैसे अग्नि का एक कण-चिनगारी सारे विश्व को जलाने में समर्थ है। वैसे ज्ञान का एक कण जहाँ है, वहाँ अनंत ज्ञान शक्ति है लोकालोक को जानने वाली। शांति भी बेहद है। आनंद भी बेहद है। सुख भी बेहद है। सभी एक जाति का है। जब अपने में ही अनंत सुख, शांति और आनंद लबालब भरा हुआ है, तो उसमें से प्राप्त नहीं होने की क्या बात है? क्यों नहीं प्राप्त हो? दूसरे से लेना हो तो पराधीनता, लेकिन दूसरे से (लेने की) पराधीनता तो है ही नहीं, अपने आपसे काम होता है। और उसमें किसी की जरूरत नहीं है, कोई मदद नहीं करता। शक्ति स्वयं कार्य करती है। शक्ति को मदद की जरूरत पड़े तो शक्ति का नाम देना बेकार है। उसको शक्ति का नाम क्या देना! स्वयं ही नाम 'शक्ति' है, उसे किसी की जरूरत नहीं है।

इसीलिये इस मार्ग में प्रवेश होने के पूर्व संकेतरूप में शक्ति में सरसराट होती है। अंदर से इसका उपादान जो है उसमें फेरफार होने लगता है। भले ही उसकी समझ में आये (या) नहीं आये, लेकिन होता है जरूर। अंदर में खलबली चालू हो जाती है। जैसे कोई आदमी गाढ़ निद्रा में सोया हुआ है, ऐसे अज्ञाननिद्रा में जीव सोया हुआ है। तो वह जगकर के कुछ प्रवृत्ति करेगा इसके पहले करवट तो बदलेगा, कुछ हलचल तो चालू हो जायेगी। बाद में जगेगा न? ऐसे आत्मा जागृत होता है अपने हित के लिये मोक्षमार्ग में, इसके पहले भीतर में कुछ खलबली चालू हो ही जाती है। सबको ऐसा अनुभव होता है। जो भी इस line में आते हैं सबको ऐसा अनुभव होता ही है।

मुमुक्षु:- अनादि से जो संसार परिणति चल रही है, उसके साथ घर्षण शुरू हो जाता है।

पूज्य भाईश्री:- वह तो बाद में (होता है)। यह तो इसके पहले घर्षण शुरू हो इसके पहले आत्मा अंदर से हलचल करना शुरू कर देता है। पहले भले समझ में नहीं आता उस भूमिका में, ख्याल नहीं आता कि ये क्या हो रहा है? किन्तु हलचल शुरू हो ही जाता है।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- इसका कारण है कि भीतर में अनंत शक्ति है। Result क्या आयेगा? अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत वीर्य। अनंत...अनंत...प्रगट होने वाला है। अनंत प्रगट होगा तो इतनी बेहद

शक्ति अंदर भरी है, उसका कुछ process चालू होने वाला है। तो यह शक्ति ठंडी कैसे रह सकती है? ठंडापन नहीं रह सकता। इसका movement कुछ न कुछ चालू हो ही जायेगा।

मुमुक्षु:- ज्ञानीपुरुष को वह दिखता है?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, उसकी कुछ एक बात ऊपर से ख्याल आ जाता है। उसके चिह्न दिख जाते हैं, (इसलिये) ख्याल आ जाता है।

जैन संप्रदाय में एक नया भूत पैदा हो गया कि कर्म परेशान करते हैं, क्या है? कि हमको तो आत्मकल्याण करना ही है, क्यों नहीं करें? लेकिन जो कर्म हैं ना, वो करने नहीं देते हैं। हमारे कुछ कर्म ऐसे हैं कि जो हमको करने नहीं देते। ये नया भूत है।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- भूत पकड़ता है ना, क्या कहते हैं? भूत लगता है। ये नया भूत लागू हो गया है। तीनों संप्रदाय में-दिगंबर में, श्वेतांबर में, स्थानकवासी में।

मुमुक्षु:- मोहराजा नचाता है।

पूज्य भाईश्री:- ये कर्म का भूत है।

ज्ञानी क्या कहते हैं मालूम है? कि ये कर्म संख्या में तो बहुत हैं। संख्या में बहुत हैं और तुमको डराने वाले भी ऐसे ही...ये हजारों, अनंत, लाखों कर्म के परमाणु हैं, वे सब मच्छर हैं, मच्छर! सिंह के आगे मच्छर की क्या औकात, हाँ? सोया हुआ, नींद में पड़ा हुआ, सिंह भी करवट बदलेगा ना तो मच्छर भागने लग जायेंगे। जागेगा तो क्या होगा? एक भी खड़े नहीं रहेंगे। नींद में करवट बदलता है सिंह, तो भी मच्छर उड़ने लगते हैं। फिर मालूम पड़ता है कि फिर सो गया तो, फिर आकर बैठ जायेंगे। भले ही बड़ी संख्या में-बड़ी तादात में आता है, फिर भी मच्छर है वह मच्छर है और सिंह है वह सिंह है! तो कहते हैं ज्ञानी ऐसे जागृत करते हैं कि तुम तो सिंह हो! तुम ये कर्म के मच्छरों से क्यों डरते हो? और जो तुमको डराता है, वो आत्मा के सिंह स्वरूप को जानता नहीं है।

मुमुक्षु:- गुरुदेवश्री प्रवचन में कहते हैं कि आत्मा हो की नहीं...

पूज्य भाईश्री:- ...अनंत आनंद आत्मा में भरा है, अनंत सुख भरा है और स्वाधीन है। तो भी पुण्य से मैं सुखी हो जाऊँगा (ऐसा अज्ञानी मानता है)। (ज्ञानी) कहते हैं कि तुमको शर्म नहीं आती है, उसकी मदद लेते हो तो? तुम अनंत शक्ति वाले चैतन्य हो, अनंत शक्ति के धनी हो। और परमाणु की तुम मदद लेते हो, तुमको शर्म नहीं आती है? क्या हो गया है तुमको? गुरुदेव क्या कहते थे? तुमको क्या हो गया? अरे रे रे...तुमको क्या हो गया? ऐसा कहते थे। अरे रे रे... तुमको हो गया क्या ये? अनंत शक्ति के तुम धनी

हो और तुम ऐसा, मुझे रोटी के दो टुकड़े मिले तो ठीक है या एक-दो रोटी मिल जाये तो ठीक है, क्या है? तुम चार-छः रोटी खाते हो, आटा कितना है इसमें? मुट्टी भर आटे के लिये तुम अनंत शक्ति के, अनंत ज्ञान के धनी दीन होकर के क्या फिरता हो। क्या हो गया है तुमको? ऐसा कहते थे, क्या हो गया?

अब जो बात कहते हैं, बहुत बढ़िया बात किया है कि 'जिस प्रकार से पुत्रादि सम्पत्ति में इस जीव को मोह होता है, वह प्रकार सर्वथा नीरस और निंदनीय है।' क्या हैं? संसार में 'जिस प्रकार से पुत्रादि सम्पत्ति में...' (अर्थात्) पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, माँ-बाप, भाई-बहन जो भी, जितने भी हैं, सर्व दूसरी संपत्ति-साधन-सामग्री, आबरू-कीर्ति इत्यादि 'ये सब मेरे हैं' (ऐसे) मेरापन होना इसको कहते हैं 'मोह'। मोह यानि क्या? (परपदार्थ में) अपना अस्तित्व नहीं होने के बावजूद भी अपनापन लगता है। अस्तित्व नहीं है। शून्य है अपने अस्तित्व से। फिर भी अपनापन लगता है। 'वह प्रकार सर्वथा नीरस और निंदनीय है।' रस लेने योग्य भी नहीं है और प्रशंसा के योग्य भी नहीं है, निंदा के योग्य है।

यह बात बहुत सामान्य बना ली है लोगों ने। और बड़ा अपराध होने के बावजूद भी उसको फर्ज और धर्म में ले लिया है। कुटुंबधर्म-कुटुंबफर्ज उसमें ले लिया है। (लोग ये कहते हैं) 'खूब अपनापन करो, ज्यादा अपनापन करो, बहुत-बहुत अपनापन करो।' अरस-परस एक-दूसरे को service देना, काम करना वह अलग बात है (और) अपनापन करना अलग बात है। इसका मतलब वह नहीं है कि हम आपका काम नहीं करेंगे, जाओ। ये बात नहीं है। काम तो करो नम्रता से लेकिन अपनापन करके नहीं। परायापन रखकर करो।

पड़ोस के यहाँ भी कोई बीमार होता है तो हम क्या बोलते हैं? 'देखो हमारे यहाँ इस बीमारी की इतनी-इतनी दवा है, आप कोई भी ले जाओ। और कोई हमारे लायक काम-सेवा हो तो हम, खड़े पैर तैयार हैं।' और क्या कहेंगे? 'कि हमारा घर आपका ही घर है।' क्या बोलेंगे? 'हमारा घर है वह आपका ही घर है। कुछ भी आप संकोच मत रखियो।' लेकिन पराया अपना कभी होता नहीं है। कितना भी प्रेम से बोले, स्नेह से बोलते हैं न? (फिर भी) कोई पराये को अपना करता नहीं है। ऐसे करो कुछ भी-अच्छी से अच्छी सेवा करो, कुटुंब की अच्छी से अच्छी सेवा करो लेकिन अपनापन का अपराध करके नहीं। यह अपराध मत करियो, यह बड़ा अपराध है। उसको lightly मत लेना, हल्के में मत लेना। वह सर्वथा निंदनीय है, ऐसा लेना क्योंकि जीव को अधोगति में जाने का कारण यह मोह और मेरापन है।

कोई कतलखाना लगाता है तो बड़ा अपराध दिखता है। कतलखाना लगाता है तो बड़ा अपराध लगता है। लेकिन अपनापन करता है वह बड़ा अपराध नहीं लगता है। लेकिन कतलखाना किसने लगाया? जिसने अपने परिवार में अपनापन किया उसने। तुमने आज नहीं लगाया तो कल तुम लगाने वाले हो, देख लेना! यह अपनापन तुमको कतलखाना लगवायेगा, ये करवायेगा तुम्हारे पास इसीलिये अपनापन करना (वह बड़ा अपराध है)।

ज्ञानी क्या हैं? ये मोह जो है, अपनापन उसको मिटाने का उपदेश देते हैं। और अज्ञानी क्या कहते हैं कि तुम बीड़ी मत पीओ, तुम चाय मत पीओ, तुम एक बार खाना खाना, तुम इतना खाना छोड़ दो, तुम उतना खाना छोड़ दो, तुम इसका पचचक्खाण ले लो, तुम व्रत ले लो, तुम नियम ले लो। मोह के विषय में कुछ नहीं बोलेंगे। ज्ञानी है, वे मोह को छुड़ाते हैं। मोह को मारो, यह मोह तुमको अपनापन कराता है।

मुमुक्षु:- ...घर में कोई घरवालों का विपरीत अभिप्राय हो तो अच्छी से अच्छी सेवा कैसे करना?

पूज्य भाईश्री:- उनका विपरीत अभिप्राय उनके पास है। उनके परिणाम उनके पास। हमें तो दोनों के बीच में जो संबंध है उसे maintain करना है, लौकिक स्तर में। लौकिक स्तर में जो भी duty है, वह duty render करो, service render करो। क्यों? कि हम भी कुछ लेते हैं उन लोगों से, हमने कुछ लिया भी है। हम मुफ्त में लेनेवाले नहीं हैं। हमको भी रोटी मिलती है, हमारी भी सुविधा होती है घर में कुछ। होती है कि नहीं होती है? तो क्या सब हम करते हैं क्या? रोटी भी हम बनाते हैं क्या? हाँ? कोई दुकान पर जाता है तो कोई रोटी बनाता है। कोई दूसरी सेवा करते हैं, कोई और सेवा करते हैं। सबकी duty सब करो। यह तो एक आपस में, मुफ्त में लाभ नहीं लेने की बात है। अपनापन करना नहीं है। वह भगवान ने निषेध किया है। वह तुम मत करो। बाकी तुम्हारा भी कुछ काम (दूसरे से) होता है तो तुम भी कुछ काम कर दो। एक काम वह करता है तो दो काम तुम कर दो। भले ही वह एक करे, तुम दो (काम) कर दो, उसमें क्या आपत्ति है। काम करने में क्या आपत्ति है? और ये भी पूर्वकर्म लेकर आये हो तुम। पूर्वकर्म के वशात् सब संयोग-वियोग हैं। और (पूर्वकर्म) अपने-अपने हैं सबके। इसीलिये अपनापन नहीं करके, सब कुछ-जो भी पूर्वकर्म के उदय हैं उसको निपटाते जाओ...निपटाते जाओ। सब कर्म के खाते को निपटाते जाओ...खाते खत्म करो। सब खाते को बंद करो, nil करते जाओ। जो भी कर्ज किया है, लेना-देना साफ (कर दो) इसके बिना मुक्ति नहीं है।

मुमुक्षु:- आपने एक बार कहा था ना कि किसी का विपरीत अभिप्राय हो तो उस अभिप्राय का निषेध होना चाहिये लेकिन जीव के प्रति द्वेष नहीं होना चाहिये।

पूज्य भाईश्री:- किसी के प्रति द्वेष करने का उपदेश ही धर्म में नहीं है, कोई धर्म में नहीं है। हमारे धर्म का तो सवाल ही नहीं है। यह तो बहुत उच्च स्तर का धर्म है। किसी के प्रति द्वेष करने का (उपदेश नहीं है)। चाहे घरवाले हो चाहे बाहर वाले हो, किसी के प्रति द्वेष करने की बात तो है ही नहीं। और कैसा भी उदय हो, समभाव से रहो। उदय कैसा भी हो-अनुकूलता का हो या प्रतिकूलता का हो। अनुकूलता में राजी होने की जरूरत नहीं, प्रतिकूलता में नाराज होने की जरूरत नहीं।

मुमुक्षु:- परधर्मी पर द्वेष करना या नहीं करना?

पूज्य भाईश्री:- नहीं...नहीं...नहीं...किसी पर द्वेष नहीं करना, किसी को मारना नहीं (है)। सब आत्मा ही आत्मा है। हमारी नजर में सब साधर्मी हैं, कोई परधर्मी है ही नहीं। हमारी जाति का है तो सब साधर्मी है। कोई परधर्मी है ही नहीं। सब भगवान आत्मा है, क्या है? (भगवान आत्मा है)।

गुरुदेव थे ना उनके (साथ) एक प्रसंग बना था। (उनका) पुण्य योग बहुत था। तो मनुष्य में क्या है ईर्ष्या ज्यादा होती है किसी की भी अच्छाई होती है तो ईर्ष्या बहुत होती है। ये मनुष्य स्वभाव हो गया है। देवों में भी होती है तो मनुष्य में तो होगी ही होगी। (गुरुदेवश्री का) तो तीनों संप्रदाय में विरोध होता था। स्थानकवासी में से निकले तो बोले कि यह संप्रदाय ही गृहीत मिथ्यात्व का है, इसीलिये हम नहीं रहेंगे। वे लोग गरम हो गये कि हमको गालियाँ देते हैं। श्वेताम्बर साधु थे तो (गुरुदेव) वस्त्रधारी को साधु नहीं मानते थे, वे लोग भी गरम हो गये। (बोले कि) क्या हम साधु नहीं हैं? इतना त्याग किया, व्यापार छोड़ दिया, कारखाना छोड़ दिया, पत्नी को छोड़ दिया, नंगे पैर चलते हैं, गरम पानी पीते हैं, वो है, वो है... (फिर भी) गुरुदेव (उन्हें साधु) मानते नहीं थे। अब रहे दिगंबर। दिगंबर में भी जो भावलिंगी संत हैं उनको ही मानते थे। नग्न हो गये इसीलिये साधु हो गये, वह नहीं मानते थे। अट्टाइस मूलगुण, छठे-सातवें गुणस्थानधारी हो, उसकी पवित्रता के बिना गुणस्थान को स्वीकारते नहीं थे। तो सब जो है नाराज हो गये। फिर, जो धार्मिक अखबार हैं वो गालियाँ निकालने लगे 'कानजी ऐसे हैं...कानजी ऐसे हैं...कानजी वैसे हैं।' और वह अखबार गुरुदेव के पास वो post करते थे। गुरुदेव पढ़ते भी थे। (और) बोलते क्या थे मालूम है? 'अरे...भगवान! तुझे क्या हुआ है?' क्या बोलते थे? गालियाँ निकालने वाले को क्या बोलते थे? 'अरे...भगवान! ये तुझे क्या हुआ? तेरे परिणाम बिगड़े। हम तो, किसी को भी हमारे से दुःख पहुँचे ऐसा हम चाहते नहीं है।' उनको भी भगवान कहकर ही पुकारते थे। द्वेष नहीं होता था, गालियाँ निकालने वाले के प्रति भी द्वेष नहीं होता था। वो उनको भी भगवान की नजर से ही देखते थे।

मुमुक्षु:- वैसे ही exactly कृपालुदेव और लघुराजस्वामी के साथ हुआ था ना मैंने घर छोड़ा...कृपालुदेव ने कहा की कुछ भी नहीं छोड़ा है। फिर जब कहा हाँ मैंने कुछ छोड़ नहीं तो कृपालुदेव ने तुरंत कहा कि हाँ अब तुमने मुनिपना छोड़ा।

पूज्य भाईश्री:- 'मैंने मेरा सब छोड़ा' या 'मेरा था उसका त्याग किया' या 'मेरे पैसे का दान दिया' (उन्होंने) मेरापन रखा है। छोड़ने के बावजूद भी मेरापन रखा है तो छोड़ा ही नहीं है। बहुत अच्छा बात इधर आया है कि 'जिस प्रकार से पुत्रादि संपत्ति में इस जीव को मोह होता है, वह प्रकार सर्वथा नीरस और निंदनीय है।'

मुमुक्षु:- भाईश्री! विपरीत अभिप्रायवाले के साथ हमें द्वेष नहीं होता है, अपने परिणाम में इसकी checking कैसे करें?

पूज्य भाईश्री:- अवलोकन करे तो। द्वेष होगा तो द्वेष के परिणाम तो बहुत स्थूल हैं, क्रोध आयेगा। द्वेष होने से क्या आयेगा? क्रोध आयेगा। क्रोध के परिणाम तो बहुत स्थूल हैं। अवलोकन करने से मालूम

पड़ जायेगा। और मध्यस्थता होगी तो करुणा आयेगी। क्या आयेगा? (करुणा आयेगी)। गुरुदेवश्री का दृष्टांत क्यों दिया? कि गुरुदेव को ये गालियाँ निकालने वाले के प्रति करुणा आती थी कि अरे...बेचारा गाली देता है, तब भी दुःखी है और गाली देने से जो कर्म बाँधता है, उस कर्म के उदय में भी दुःखी हो जायेंगे। तो किसी को भी दुःख पहुँचे ऐसा हम चाहते नहीं हैं। वो करुणा करते थे इसके ऊपर-करुणा रखते थे, तो करुणा वाले को क्रोध या द्वेष नहीं आयेगा, द्वेष और क्रोध करने वाले को करुणा नहीं आयेगी, पता चल जायेगा।

ऐसा है कि हम वह अपेक्षा रखें कि हमारा जैसा अभिप्राय है, ऐसा ही सबका हो जाये ये, नासमझ है। समझदारी नहीं है इसमें, यह कभी होनेवाला नहीं है। कृपालुदेव को एक आदमी ने प्रश्न पूछा कि आप जैन धर्म की प्रशंसा करते हो न? तो कहा हाँ, करते हैं। क्यों? कि उच्च स्तर का धर्म है। (उसने पूछा) उच्च स्तर का यानि सबसे उच्च स्तर का है? तो कहा कि हाँ, विश्व में सबसे उच्च स्तर का है। (उसने कहा) तो सबसे उच्च स्तर का जो यह धर्म है विश्व में तो सब लोग क्यों नहीं मानते है? कुछ एक लोग मानते हैं, सब लोग क्यों नहीं मानते? (तो कृपालुदेव ने कहा) ये कभी बनने वाला नहीं है। क्यों? कि सभी संसारियों की मति 'कर्मानुसारी मति' है। कैसी है? कर्मानुसारी मति है। उसके कर्म का उदय आता है, उसके पीछे उसकी मति काम करती है। जैसा उदय आता है, उस प्रकार की मति काम करती है। (कृपालुदेव ने) जवाब तो अपनी भाषा में दिया है कि 'कर्म की बाहुल्यता है' ये। विध-विध प्रकार के कर्म उदय आते हैं, उस-उस प्रकार की मति हो जाती है। तो ये कभी बनने वाला है नहीं, बनेगा भी नहीं। और हमारे में उतनी मध्यस्थता होनी चाहिये और उतनी सहनशीलता होनी चाहिये कि हमारे से विरुद्ध अभिप्राय कोई रखता है, उसके प्रति भी हम द्वेष नहीं करे और मध्यस्थता से इसका विचार करें कि उसका भी कल्याण कैसे हो? वह भी सत्य को कैसे प्राप्त करे? इस प्रकार का हमारा attitude रहना चाहिये।

ऐसे तो आज भी संसार में यह बात हो गयी है कि 'सर्वधर्मसहिष्णुता', क्या शब्द प्रयोग है? 'सहिष्णुता' शब्द है। तो कोई मंदिर बनायेगा, तो कोई मस्जिद बनायेगा, तो कोई गुरुद्वारा बनायेगा, कोई क्या बनायेगा और कोई क्या बनायेगा। सब स्वतंत्र हैं। हम किसी को हाँ (या) ना कर सकते नहीं हैं। जैसा जिसका अभिप्राय है, वैसा काम करेगा। सहिष्णुता हमको रखनी चाहिये। हम मस्जिद बनाने नहीं देंगे, हम मंदिर बनाने नहीं देंगे वह बात संसारी लोग भी नहीं करते हैं तो धर्म में तो यह बात होनी ही नहीं चाहिये। कि हमारे अभिप्रायवाले ही सब हो ऐसी बात नहीं हो सकती। (जो ऐसा मानता है) वह द्रव्य की स्वतंत्रता को नहीं स्वीकारता (है)। सभी जीव स्वतंत्र हैं।

हमारे जीव ने अनंत बार समवसरण में जाकर के भगवान की आज्ञा नहीं मानी। भगवान तो पूरे समर्थ हैं, सर्वज्ञ शक्ति के धारक हैं, अनंत चतुष्टय प्रगट किया हैं लेकिन हम भी स्वतंत्र थे। ऐसे सब स्वतंत्र हैं। किसी की स्वतंत्रता पर तराप (झपटा) मारना, क्या? यह बराबर नहीं है। ऐसा होना नहीं चाहिये। वैचारिक स्वतंत्रता को तो पढ़े लिखे लोग समझते हैं। बाप का कोई विचार हो, बेटे का कोई विचार है,

पत्नी का कोई विचार हो, सब अपने-अपने स्वतंत्र है विचार करने के लिये। इसीलिये किसी पर दबाव होना नहीं चाहिये। हमारा भी (दबाव) नहीं होना चाहिये किसी के प्रति।

मुमुक्षु:- कोई अपने पर दबाव करे तो?

पूज्य भाईश्री:- कोई दबाव करे तो उनको समझाना चाहिये कि ये दबाव करने लायक बात नहीं है, क्योंकि ऐसा बनने वाला नहीं है। हम भी स्वतंत्र है, जीव हैं। सब जीव है (और) सब जीव स्वतंत्र हैं।

‘जीव यदि जरा भी विचार करे तो यह बात स्पष्ट समझ में आने जैसी है कि इस जीव ने किसी में पुत्रत्व की भावना करके अपना अहित करने में कोई कसर नहीं रखी...’ गुजराती में तो ‘माठु करवामां मणां राखी नथी’ (ऐसा लिखकर) ‘म’ का alliteration किया है। अपना अहित करने में कोई कसर नहीं रखी। पुत्रपना मानकर के, पितापना मानकर के सब गड़बड़ कर दिया। ‘और किसी को पिता मानकर के भी वैसा ही किया है, और कोई जीव अभी तक तो पिता पुत्र हो सका है, ऐसा दिखने में नहीं आया।’ (जो) आज पिता है वह (कल) पौत्र के रूप में आयेगा। क्या होगा? बाप है या दादा है (वह) बेटे का बेटा हो जायेगा। क्या करेंगे? हो सकता है उसी घर में उसका जन्म हो जाये, बन सकता है। वो तो, कोई किसी का कुछ है? नहीं है। सब जीव हैं, ऐसा मानना है। व्यवहार है, वो संसार का व्यवहार संसार की तरह से (चलता है)। वो तो ऐसे ही चला लेकिन मान्यता में क्या हो? वो बात है। व्यवहार की बात अलग है, मान्यता की बात अलग है। थोड़ी और चर्चा लेंगे इसके ऊपर। अभी समय हुआ है।

प्रवचन-4, दि. 02-01-1997

पत्रांक-510 (2), बांधणी

श्रीमद् राजचंद्र-वचनामृत, पत्र-510 वाँ चलता है। मुमुक्षु की भूमिका में दर्शनमोह यथार्थ प्रकार से जब तक कमजोर नहीं होता, तब तक मुमुक्षु को भी कुटुंब प्रतिबंध रहता है। चार प्रकार के प्रतिबंध कृपालुदेव ने बताये हैं। समाज प्रतिबंध, कुटुंब प्रतिबंध, शरीर प्रतिबंध और संकल्प-विकल्प प्रतिबंध।

समाज की मुख्यता करके आत्मकल्याण के साधन को गौण करना यानि आत्मकल्याण को गौण करना, यह समाज प्रतिबंध है। इसमें समाज की नजर में अपनी इज्जत बनाये रखने का अभिप्राय रहता है। और उस अभिप्राय के कारण से तीव्र परलक्ष रहता है। और परलक्ष रहने के कारण से अपना स्वलक्ष चूक जाता है जीव, तो अपना आत्मकल्याण वह कर सकता नहीं है।

ठीक उसी तरह कुटुंब प्रतिबंध होता है। उसमें कुटुंब को मुख्य करके या कुटुंब के कार्यों को मुख्य करके, कुटुंब स्नेह के वशात्, क्या? कुटुंब स्नेह के वशात् आत्मकल्याण और आत्मकल्याण के साधन को गौण कर देना, यह कुटुंब प्रतिबंध है। इस पत्र में जो उपदेश दिया है कृपालुदेव ने वह कुटुंब प्रतिबंध हटाने के लिये दिया है। और कुटुंब प्रतिबंध किसका हटता है? कि जिसका दर्शनमोह कमजोर होता है उसका। दर्शनमोह से परिणाम क्या होता है? कि कुटुंब परिवार आदि में अपनत्व रहता है।

कल चर्चा अपनी स्वाध्याय में चल रही थी कि अपनत्व करके कुटुंब कार्य नहीं करना है। कुटुंब कार्य तो करना ही पड़ेगा और प्रमाणिकता से करना भी चाहिये। क्यों? कि अपनी सुविधा भी कुटुंब से मिलती है। (और) कुटुंबवालों को सुविधा भी हमारे से मिलनी चाहिये। यह तो परस्पर की duty हो जाती है। जब यह फर्ज निभानी है तब हमें सावधानी क्या रखनी है? उतनी सी बात है, कि हमें यह सावधानी रखनी है कि अपनत्व नहीं करना है। अपनत्व नहीं करना चाहिये ऐसा प्रयास करने से अपनत्व ढीला होता है। मुमुक्षु की भूमिका में (अपनत्व) जाता नहीं, जायेगा तो ज्ञानदशा में ज्ञानी का जायेगा। मुमुक्षु की भूमिका पार करके ज्ञानदशा में प्रवेश होगा तब यह अपनत्व जायेगा। इसके पहले अपनत्व जाता नहीं मुमुक्षु को लेकिन ढीला तो अवश्य कर सकता है और ढीला हुये बिना जायेगा भी नहीं। जब तक (अपनत्व) तगड़ा होगा तब तक तो जानेवाला है ही नहीं। तो कुटुंब कार्य करते हुये भी अपनत्व ढीला हो जाये, यह मुमुक्षु की सही भूमिका है। इस विषय में बात कर रहे हैं।

मुमुक्षु:- भाईश्री! अगर कुटुंब में पति-पत्नी दोनों मुमुक्षु हो, उसमें अपनत्व का feeling नहीं बढ़े, कुटुंब प्रतिबंध नहीं बढ़े और मुमुक्षु के प्रति का वात्सल्य भी बना रहे, उसमें balance किस प्रकार से रखना चाहिये?

पूज्य भाईश्री:- जब कुटुंब में भी कुटुंब के सदस्य हो, चाहे पति-पत्नी हो, चाहे पिता-पुत्र हो, चाहे भाई-भाई हो, कोई भी संबंध हो, जब दोनों की भावना आत्मकल्याण की है, तो दोनों तो समझदार हो गये। कि अपने को अपनत्व किये बिना, साधर्मी वात्सल्य और बढ़ाकर, साधर्मी वात्सल्य को बढ़ाकर

एक दूसरे को आत्मकल्याण करने में co-operation देना है। तो अच्छी बात है। उसमें तो कोई आपत्ति नहीं होती।

मुमुक्षु:- परंतु डर लगा रहता है कि वात्सल्य की आड़ में कहीं अपनत्व की feeling develop तो नहीं हो जायेगी?

पूज्य भाईश्री:- नहीं, अपनत्व होना अलग बात है (और) वात्सल्य होना अलग बात है। वात्सल्य है वह धर्म-प्रेम है। वात्सल्य क्या चीज है? धर्म-प्रेम को वात्सल्य कहते हैं और संसार-प्रेम को वात्सल्य नहीं कहते हैं। वह तो संसार का राग है। संसार का तो परस्पर का जो राग है, उसका आधार, उसका माध्यम धर्म नहीं है। और यहाँ वात्सल्य का माध्यम धर्म है। क्या है? वात्सल्य का माध्यम धर्म है। माध्यम बदल जाता है, यह नहीं समझ सकते क्या? माध्यम को नहीं समझ सकते क्या? कि हमारा माध्यम कौन सा है? देखो! कुटुम्ब के राग में अधिकार बुद्धि होती है। क्या होता है? (अधिकार-बुद्धि होती है) और धार्मिक वात्सल्य में मैत्री रहती है। मित्र कभी अधिकार करता है क्या? जो सच्ची मैत्री है उसमें अधिकार नहीं होता, स्नेह होता है, प्रेम होता है। और संसार के संबंध में तो अधिकार-बुद्धि आये बिना रहेगी नहीं 'यह मेरा अधिकार है।' जो भी सम्बन्ध है उस संबंध के नाते अधिकार को भोगना ये वृत्ति रहती है। इन दोनों में तो बहुत बड़ा फर्क है। एकदम divide हो जाता है-बात अलग हो जाती है।

मुमुक्षु:- प्रश्न के continuation में दूसरा प्रश्न है कि reverse हो जाते हैं, दोनों को सहमत नहीं हो तो क्या करना चाहिये? वो भी बताइये।

पूज्य भाईश्री:- जब एक दूसरे के विचार भेद चलते हो, अभिप्राय विरुद्ध चलता हो, भेद यानि विरुद्ध समझो। एक तो समझाने की कोशिश करना सबसे पहले तो कि देखिये! हमारा-आपका जो संबंध है उसमें एक दूसरे को नुकसान हो, बुराई हो या एक-दूसरे को कोई तकलीफ़ हो, दुःख पहुँचे, यह तो नहीं चाहते आपस में। अपनत्व होने से एक-दूसरे को दुःखी करना तो नहीं चाहते। तो पहले तो समझाने की कोशिश करनी चाहिये कि देखिये! ऐसा लोकोत्तर सुख का मार्ग, लोकोत्तर सुख का उपाय, (उसकी) ऐसी पूरी line कहीं नहीं मिलती। एक इसी धर्म के सिवाय विश्व में कहीं नहीं है। तो ऐसी अमूल्य चीज को समझने की कोशिश करो। समझ आने पर कहना नहीं पड़ेगा। जहाँ तक नहीं समझ आती है वहाँ तक समझाना पड़ता है। फिर भी कोई संसार के बंधन और मोह के वशात् समझना ही नहीं चाहे, ऐसा भी बन सकता है। कोई तो समझता है समझदार होता है। क्योंकि अपने निज सुख की तो बात है। बात तो अपने सुख की है, अपने स्वार्थ की है। बहुभाग तो समझदार समझ जाता है। लेकिन ऐसे भी लोग होते हैं, नासमझ होते हैं। समझना चाहते भी नहीं, ऐसा भी बनता है। तो फिर उसके ऊपर कोई बात थोपना नहीं। थोपना नहीं, दबाव डालाना नहीं, कुछ नहीं करना। उसकी स्वतंत्रता उसको भोगने दो। और आप अपने रास्ते पर चलो। आप अपना कार्य करो। इस विषय में फिर चर्चा करोगे तो उसे लगेगा कि मेरे पर दबाव आ रहा है, मुझ पर थोप रहे हैं अपनी मान्यता को, अपने विचारों को लाद रहे हैं। (हमें) लादना नहीं है, थोपना नहीं है। इतनी सावधानी रखकर कोई appeal करता है तो समझदार तो बहुभाग

समझ जाता है। फिर कोई नासमझ हो और नहीं समझे तो फिर छोड़ देना इस बात को, मान लेना कि अभी इनका परिभ्रमण ज्यादा है। इनकी होनहार अच्छी नहीं है तो हम क्या करेंगे? जिसकी होनहार अच्छी नहीं है, जिसका परिभ्रमण बहुत है, उसको इस बात की रुचि नहीं हो सकती है तो उसमें कोई अपना प्रयास काम में नहीं आयेगा और हठ से कुछ करेंगे तो क्लेश बढ़ जायेगा। तो क्लेश तो करना नहीं है, क्लेश बढ़ाना भी नहीं है। अपने-अपने कार्य में लगे। उनको उनका काम करने दो।

मुमुक्षु:- तो अमुक मर्यादा तक बोलना चाहिये, उसके आगे नहीं जाना चाहिये?

पूज्य भाईश्री:- बात शांति से, समझदारी से करनी है। अगर ठीक हो गया तो इसका भी भला है और नहीं ठीक हुआ तो हम क्या करेंगे? इसका तो कोई इलाज संसार में है ही नहीं जगत में। सब स्वतंत्र है, सब स्वतंत्र हैं। उसकी स्वतंत्रता पर तराप (झपटा) लगाना, यह हमारा काम नहीं है।

मुमुक्षु:- भाईश्री! लौकिक मित्रता और धार्मिक मित्रता दोनों में निस्वार्थपना है, तो यहाँ पर क्या लेना?

पूज्य भाईश्री:- लौकिक मित्रता में 99% निस्वार्थता नहीं होती। अपवाद को एक ओर रख दें। बाकी 99% तो कुछ न कुछ स्वार्थ होता ही है। धार्मिक मित्रता में स्वार्थ नहीं होता। धार्मिक मित्रता में तो अगले की भलाई को मुख्य करके मित्रता रखी जाती है। इसका भी भला हो, इसका भी कल्याण हो, उतनी सी बात है।

चलते विषय में क्या है, 'जीव यदि जरा भी विचार करे तो' थोड़ा भी विचार करे तो 'यह बात स्पष्ट समझ में आने जैसी है कि हमारे जीव ने...' इस जीव ने यानि third person नहीं लेना। हमारे जीव ने 'किसी अन्य जीव में पुत्रत्व की भावना करके अपना अहित करने में कोई कसर नहीं रखी...' (लोग क्या मानते हैं?) कि देखिये! हमको तो दो-चार रोटी खानी है। लेकिन इतने परिवार में लड़के-लड़की हैं, तो इनके लिये तो कुछ करना चाहिये कि नहीं? उनके लिये जो भी करता है, उसमें इतना कर्मबंध करता है, इतना कर्मबंध है कि अपना अहित करने में कोई कसर नहीं रखता।

'और किसी को पिता मानकर भी वैसा ही किया है...' पुत्र के लिये भी किसी ने किया, तो किसी ने पिता के लिये किया, तो किसी ने भाई के लिये किया, तो किसी ने दूसरे-दूसरे परिवार के (सदस्यों के) लिये किया। 'और कोई जीव अभी तक तो दूसरे जीव का पिता पुत्र हो सका हो, ऐसा देखने में नहीं आया।' क्योंकि वह भी एक जीव है। परिभ्रमण करता हुआ प्रारब्ध के योग से यहाँ संयोग हुआ है। वास्तव में वह कोई पिता पुत्र होता नहीं है कभी ऐसा बनता है कि दादा है वह पौत्र बन जाता है, क्या करोगे? आज तो दादा है यानि पिता के पिता (वे) वृद्ध हुये और (मरकर) पुत्रवधु के पेट में आ जाता है। क्या करोगे? यहाँ आयु पूरी हुयी और यहाँ गर्भ में आना हो जाता है। उसको दादा कहेंगे या पौत्र कहेंगे? क्या कहेंगे? वास्तव में (कुछ) नहीं है। फिर भी जैसा संबंध बनता है वैसा व्यवहार करने में आता है। व्यवहार की बात अलग है। निश्चय से वास्तव में कोई किसी का पुत्र पिता हो सकता नहीं है।

‘सब कहते आये हैं...’ संसार में तो सब व्यवहार करते आये हैं, ‘कि इसका यह पुत्र अथवा इसका यह पिता है...’ ऐसा कहते हैं और ऐसा व्यवहार भी होता है। परंतु विचार करते हुये स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह बात किसी भी काल में संभव नहीं है। यह बन ही नहीं सकता। वास्तविकता यह है। क्यों? ‘कि अनुत्पन्न ऐसे इस जीव को...’ (अर्थात्) इस जीव को उत्पन्न नहीं कर सकते। नया नहीं बना सकते कोई जीव को।

‘अनुत्पन्न ऐसे इस जीव को पुत्ररूप से मानना अथवा ऐसा मनवाने की इच्छा रहना, यह सब जीव की मूढ़ता है...’ दूसरे जीव के बाप बनकर बैठ जायें (तो), ज्ञानी कहते हैं कि यह जीव की मूढ़ता है और कुछ नहीं है, यह जीव की मूढ़ता है। और कुछ नहीं है। पिता को अधिकार-बुद्धि छोड़ देनी चाहिये। और पुत्र हो तो पुत्र को भी पुत्र का अधिकारपना छोड़ देना चाहिये। आप मेरे पिता हो इसीलिये आपकी सम्पत्ति में मेरा अधिकार है, ये काम अपना नहीं है। और तुम मेरे बेटे हो इसीलिये तुम को मेरी (बात) माननी पड़ेगी, ये काम भी हमारा नहीं है। दोनों बात छोड़ देना चाहिये। यह स्वतंत्र जीव है। (उसे) सही बात को समझाओ, उसके आत्मकल्याण की वांछा करो, सद्भावना रखो! अगर ठीक हो गया तो, ठीक है! नहीं हुआ तो अपने को अपना काम बहुत बाकी है। अपने को अपना काम बहुत बाकी है। फुर्सत कहाँ है? दूसरों का लक्ष करने का भी निषेध है तो आगे की बात तो कोई रहती नहीं है।

मूढ़ता इसीलिये कहते हैं, मूढ़ता का मतलब क्या होता है मालूम है? जो जीव अपने आपको नुकसान करता है और मानता है कि मैं ठीक कर रहा हूँ, इसका नाम मूढ़ता है। मूढ़ता किसको कहते हैं? कि अपने को नुकसान करके भी मानता है कि मैं सही कर रहा हूँ। यह जीव की मूढ़ता है।

मुमुक्षु:- (जीव) पागल जैसे करता है।

पूज्य भाईश्री:- क्योंकि यहाँ तो यह (बात) लिया न? कि ‘अनुत्पन्न ऐसे इस जीव को पुत्ररूप से मानना...’ यह मेरा पुत्र है और पुत्र को मनवाना कि तू मेरा पुत्र है! ख्याल रखना (कि) मैं तेरा बाप हूँ, तू मेरा पुत्र है, मत भूलना। ऐसी इच्छा रखना, ‘यह सब जीव की मूढ़ता है...’ ज्ञानी करुणा से कहते हैं। ज्ञानी जो कहते हैं वह करुणा से कहते हैं।

‘और यह मूढ़ता किसी भी प्रकार से सत्संग की इच्छा वाले जीव को करना योग्य नहीं है।’ तो ऐसी इच्छा जो सत्संग करता है ऐसे जीव को ऐसी इच्छा करनी नहीं चाहिये। दूसरे की बात अलग है। जो सत्संग में नहीं आता हो, सत्संग में आने वाली बातों को नहीं समझता हो, ऐसे संसारी जीव तो कुछ भी करेंगे। क्योंकि उसका तो यह विषय नहीं है। उसका तो यह विषय नहीं है, इस प्रकार की समझ भी नहीं (है)। इस प्रकार की चर्चा-वार्ता उन लोगों में होती नहीं। यह विषय ही उन लोगों का नहीं है तो क्या करें? लेकिन जो सत्संग में आता है और इसकी चर्चा करते हैं कि कुटुंब प्रतिबंध क्या चीज है? कैसे-कैसे होता है? और (प्रतिबंध) होने से जीव अधोगति में चला जाता है, वह कितना बड़ा अपराध है,

दर्शनमोह तगड़ा हो जाता है, इसीलिये कुटुंब प्रतिबंध तो होना ही नहीं चाहिये। उनको तो खास जागृति रखनी चाहिये।

‘आपने जो मोहादि प्रकार के विषय में लिखा है, यह दोनों के लिये भ्रमणा का हेतु है...’ त्रिभुवनभाई को पत्र लिख रहे हैं तो उनको व्यक्तिगत कह रहे हैं कि आपने जो मोहादि प्रकार के विषय में लिखा है कि हमको हमारे परिवार में ऐसा मोह रहता है। कहते हैं कि यह तो भ्रमणा है आपकी। ये भ्रमणा नहीं चाहिये। ऐसी भ्रमणा होनी नहीं चाहिये। ‘वह दोनों के लिये भ्रमण का हेतु है...’ (यानि) दोनों के लिए भ्रमणा नहीं भ्रमण का हेतु है, परिभ्रमण का हेतु है। आप यदि अपने परिवार के प्रति अपनत्व रखोगे (तो) यह परिभ्रमण का हेतु है।

देखो! धर्म क्या सिखाता है! बहुत ध्यान देने योग्य बात है। कुटुम्ब के बीच में रहो और कुटुम्ब में अपनत्व मत करो! धर्म ये नहीं कहता कि तुम कुटुंब छोड़कर चले जाओ अभी, घर छोड़कर निकल जाओ! ये नहीं कहता अभी (है)। पहले तुम अपनत्व को छोड़ो फिर तुमको कभी स्वरूप स्थिरता के लिये, आत्मकल्याण के लिये, स्वरूप में जम जाने के लिये, (कुटुम्ब को) छोड़ने का अवसर आयेगा तो कोई तुमको ज़ोर पड़ेगा नहीं। जोर नहीं आयेगा। ‘ये मुझे छोड़ना पड़ता है, ये मैं छोड़ता हूँ’ ऐसा नहीं होगा। वो तो वैसे ही अपनत्व तो छूट गया है तो फिर कोई आपत्ति नहीं आती, यह क्रम है। त्याग का यह क्रम है कि पहले अपनत्व को छोड़ो फिर वस्तु का त्याग आता है। अपनत्व छोड़े बिना वस्तु का त्याग हो ही नहीं सकता। आ ही नहीं सकता, बन ही नहीं सकता।

मुमुक्षु:- अपनत्व किस आधार से छोड़ना?

पूज्य भाईश्री:- पहले तो आत्मकल्याण की भावना के आधार से (छोड़ना)। और भावना में आगे बढे और स्वरूपज्ञान हो जाये तो फिर निज स्वरूप के आधार से (अपनत्व छोड़ना)। स्वरूप में अपनत्व करना। स्वरूप में अपनत्व करने से सभी अन्य जीव और अजीव, सभी पदार्थ से भिन्नत्व हो ही जायेगा। लेकिन पहले से हम कहें कि आप आत्मा के आधार से अपनत्व को छोड़ो तो आपका यह प्रश्न आयेगा कि आत्मा को तो हम जानते नहीं, समझते नहीं, अनुभव हुआ नहीं करें क्या? (आपकी) बात तो ठीक है। कि जिसने आत्मा को जाना नहीं, वह (आत्मा में) अपनत्व कैसे करेगा? निजरूप से निज को जाना नहीं तो अपनत्व तो होगा नहीं, तो भिन्नत्व भी बाहर से होगा नहीं। लेकिन आत्मकल्याण की भावना तो कर सकते हो, हर हालत में (कर सकते हो), उस भावना के वशात् अपनत्व को ढीला कर दो कि मुझे कल्याण करना है और अपनत्व अकल्याण कराता है। तो अकल्याण नहीं करना है तो ढीला तो हो जायेगा अपनत्व, कि नहीं हो सकता? बस! पहला stage वो है-भावना का, दूसरा stage है आत्मज्ञान का, तीसरा stage है आत्मस्थिरता का और चौथे stage में तो भगवान बन जाता है! खुद ही भगवान बन जाता है मुनिदशा के बाद। मुनिदशा में बाहर का संबंध छूट जाता है। ‘सर्व संबंधनु बंधन तीक्ष्ण छेदीने, विचरशुं कव महतपुरुष ने पंथ जो’ (अपूर्व अवसर काव्य में आता है)। महत् पुरुष यानि

तीर्थकरादि महापुरुषों का जो मार्ग है, उस मार्ग में हम कब विचरेंगे? कि सर्व संबंध का बंधन छोड़ देंगे तब तो इसके पहले इसके (कुटुंब के) साथ रहकर अपनत्व छोड़ो।

मिठाई का थाल भरा हुआ है, आपको उसके सामने बैठकर मिठाई की मिठास तोड़नी है, क्या? मिठाई का त्याग करके (मिठास छोड़ना चाहे तो) मिठाई की मिठास ऐसे नहीं टूट सकती। (कोई ऐसा सोचे) कि चलो खाना ही नहीं। हम 20 साल से मिठाई नहीं खाते हैं खत्म, ऐसे (मिठास) नहीं छूटती। पहले मिठाई के सामने बैठकर इसकी मिठास को छोड़ो कि इसमें कुछ नहीं है।

मुमुक्षु:- यह कठिन कार्य है।

पूज्य भाईश्री:- धर्म की कार्यपद्धति यही है। धर्म की कार्यपद्धति ही यही है। आपका रस छूटे बिना त्याग बेकार है, रस छूटे बिना त्याग बेकार है। क्योंकि रोग तो अंदर रह गया। आपने मरहम-पट्टी ऊपर से कर दी। और अंदर में तो सड़न चालू है। रूँधा हुआ कषाय है। कैसा है ये? रूँधा हुआ कषाय है।

‘आपने जो मोहादि प्रकार के विषयमें लिखा है, वह दोनों के लिये भ्रमण का हेतु है...’ आपने जो लिखा कि हमको हमारे परिवार के प्रति इतना मोह रहता है, यह तो परिभ्रमण बढ़ायेगा आपका। ‘अत्यन्त विडम्बना का हेतु है।’ परिभ्रमण यानि क्या? बहुत विडम्बनामय जन्म-मरण होंगे। अनेक प्रकार के दुःख भोगना पड़ेगा।

‘ज्ञानीपुरुष भी यदि इस तरह आचरण करे’ क्या? ज्ञानीपुरुष भी इस तरह आचरण करे ‘तो ज्ञान को ठोकर मारने जैसा है...’ ज्ञानी को भी कुटुम्ब प्रतिबंध allowed नहीं है, ऐसा कहते हैं। ज्ञानी भी कुटुंब के बीच में रहते हैं, (लेकिन) कुटुंब प्रतिबंध नहीं करते। अगर करे तो वे ज्ञान को ठोकर मारते हैं, ऐसा कहते हैं। (गुजराती में) ‘ज्ञान ऊपर पग मुकवा जेवूँ छे। (ऐसा लिखा है)। ये जरा जोरदार शब्द लिया है हिन्दी भाषा में-‘ठोकर मारने जैसा है...’ ज्ञान को ठोकर मारने की बात हो गयी। ज्ञान तो (परपदार्थ से) भिन्नत्व कराता है। और अपनत्व कर लिया तो ज्ञान के ऊपर पैर रख दिया। यह ज्ञान को ठोकर मार दी।

‘ज्ञानीपुरुष भी यदि इस तरह आचरण करे तो ज्ञान को ठोकर मारने जैसा है, और सब प्रकार से अज्ञाननिद्रा का वह हेतु है।’ अज्ञाननिद्रा-मोहनिद्रा आ जायेगी वहाँ तो। मोहनिद्रा का कारण है। इसीलिये ज्ञानी परिवार के बीच में रहते हुये भी अपनत्व करते नहीं है।

कृपालुदेव (व्यापार की) गद्दी पर जाते थे, व्यापार करते थे। क्या लिखा? कि ‘ये फलाने-फलाने का कर्ज चुका रहे हैं।’ क्या? कर्ज चुका रहे हैं। बाकी हमारे परिवार के लिये हम (व्यापार) करते हैं, वो बात नहीं है। हमारे प्रारब्ध को भोग रहे हैं। इतना कर्जा किया है वह कर्जा निपटाते हैं। बाकी हमको कोई पौद्गलिक वैभव की अपेक्षा नहीं है।

मुमुक्षु:- भाईश्री! कृपालुदेव को दीक्षा लेने के बहुत भाव थे, फिर भी उनके मातुश्री अनुमति नहीं देते थे, तो फिर वहाँ क्या लेना?

(यहाँ कहते हैं) 'ज्ञानीपुरुष भी यदि इस तरह आचरण करे...' यानि अपनत्व करके (आचरण करे) 'तो ज्ञान को ठोकर मारने जैसा है, और सब प्रकार से अज्ञाननिद्रा का वह हेतु है। इस प्रकार के विचार से दोनों को सीधा भाव कर्तव्य है।' दोनों को यानि आप पति-पत्नी दोनों को। कि अपने पुत्रादि के प्रति सीधा भाव करो। सीधा भाव करो यानि (उसे) अपना मत समझो, अपनत्व मत करो। उसको भी एक जीव समझो। कि जो जीव संसार परिभ्रमण करते हुये प्रारब्ध योग से हमारे घर में एक संयोग में रहता है। इससे ज्यादा उसके प्रति लगाव मत रखो।

'...दोनों को सीधा भाव कर्तव्य है। यह बात अल्पकाल में ध्यान में लेने योग्य है।' यानि शीघ्र ही ध्यान में लेने योग्य है। धीरे-धीरे अपनत्व छोड़ुंगा यह बात नहीं लेना। मैं कोशिश करता हूँ, मैं प्रयास करता हूँ, क्या? मुझे अपनत्व तो है लेकिन मैं अपनत्व छोड़ने का प्रयास करता हूँ, (अपनत्व) धीरे-धीरे मेरा छूटेगा, धीरे-धीरे मेरा छूटेगा ऐसा नहीं लेना। शीघ्र छोड़ो, वस्तुस्वरूप देखो। वस्तु का जो स्वरूप है वह तो स्पष्ट भिन्न है। अस्तित्व कहाँ है? परिवार के किसी सदस्य में अपना अस्तित्व है क्या? है ही नहीं। शरीर में (भी) अस्तित्व नहीं (है तो) परिवार की बात कहाँ है। शरीर भी मेरा कहा तो नहीं मानता। मानता है क्या, हाँ? शरीर का एक बाल भी नहीं मानता, शरीर क्या। वो (बाल) काले में से सफेद होता है, मानता है किसी का? नहीं मानेगा वो। परमाणु-परमाणु स्वतंत्र है, जीव-जीव स्वतंत्र है। सब अनंतगुण के स्वामी हैं। अनंत शक्ति के सब स्वामी हैं। हमें किसी का स्वामी होना नहीं है। स्वामी रहना और दुःखी नहीं होना- ये दोनो बात बनने वाली नहीं है। स्वामी हुआ कि उसकी उपाधि आ पड़ी। उपाधि नहीं छूटेगी। स्वामी हुआ कि उपाधि आ गयी।

अधिकार और उपाधि एक सिक्के के दो बाजू हैं। अधिकार और उपाधि एक सिक्के के दो बाजू हैं। किसी भी प्रकार का अधिकार रखा कि उपाधि आ गयी, जाओ। इसीलिये अधिकार छोड़ देना। ये अधिकार छोड़ देना, वह सीधा भाव (है) कर्तव्य है। वह सीधा भाव है। और अधिकार रखना वह टेढ़ा भाव है। वह सीधा (भाव) नहीं है।

'यह बात अल्पकाल में ध्यान में लेने योग्य है।' शीघ्र ध्यान में लेने योग्य है। 'आप और आपके सत्संगी यथासम्भव निवृत्ति का अवकाश लें, यही जीव को हितकारी है।' त्रिभुवनदास भाई को कृपालुदेव जानते थे और इनके संग में आने वाले जीवों को भी जानते थे, सत्संगी। (इसीलिये कहते हैं कि) आप और आपके सत्संगी निवृत्ति लें तो अच्छी बात है। निवृत्ति किसके लिये? आत्मकल्याण के लिये। जितने अवकाश में यानि जितनी हो सके उतनी। 'यही जीव को हितकारी है।' वह आपके लिये हित का कारण बनेगा।

मतलब यह है कि कुछ आयु बीतने पर भी यानि 40-50 साल होने पर भी और कुछ संपन्नता होने पर भी, जीव व्यवसाय में लगा रहता है, वो कुटुम्ब में अपनत्व के कारण से लगा रहता है। अब भी मेरे कुटुम्ब का कार्य करना है...अब भी मेरे कुटुम्ब का कार्य करना है... अब भी मेरे कुटुम्ब का कार्य करना है...अरे...! अपनी आयु कितनी चली गयी वो तो देख! और कब खत्म होगी वह तो पता नहीं किसी

को। किसके भरोसे करता है तू प्रवृत्ति? ज्ञानी उनको कहेंगे कि तुम निवृत्ति ले लो। ये अपनत्व को ढीला करके निवृत्ति ले लो। तुम्हारी प्रवृत्ति अपनत्व के कारण से है। प्रवृत्ति छुड़ाने में अपनत्व छुड़ाने का अभिप्राय है। लेकिन लड़के line पर नहीं हो तो line पर तो ले आये कि नहीं ले आये? (तो ज्ञानी कहते हैं) देखो! सब अपना प्रारब्ध लेकर आते हैं। क्या? किसी बेटे का प्रारब्ध बाप बनाता है क्या? गलत बात है।

Foreign में तो यह बात ही नहीं है। जबकि वहाँ कोई मोह छूट गया है वो बात नहीं है। वहाँ मोह तगड़ा है तो ऐसी बात है। वहाँ तो क्या है कि मेरी सम्पत्ति मैं ही भोगूँ पूरी-पूरी, लड़के को भी नहीं देना है। लेकिन अपने को सीधी बात लेनी है तो उसका मतलब क्या हुआ? कि वह भी अपना प्रारब्ध लेकर आया है। वह उसके प्रारब्ध अनुसार कार्य करेगा। उनको जो भी होगा वह उनके प्रारब्ध अनुसार होगा। इसमें कौन क्या कर सकता है? कि कुछ नहीं कर सकता। अपनत्व के कारण से जो लगाव है वह अधोगति में ले जायेगा। बड़ी विडम्बना हो जायेगी। तो इसको हल्की सी बात नहीं लेकर, गंभीर नुकसान का कारण लेना चाहिये कि जैसे मैं कोई गंभीर अपराध कर रहा हूँ। ऐसा ले लेना।

मुमुक्षु:- ...अल्पकाल में चेतवा योग्य छे...

पूज्य भाईश्री:- ...अल्पकाल में यानि शीघ्र। अभी ही जागृत हो जा! ऐसा कहते हैं। चेतावनी दी है। अभी ही तुम जागृत-सावधान हो जाओ! अभी भी सावधान हो जा! अगर तुम अपनत्व करते हो तो अभी भी सावधान हो जा! इतना काम निपटाने के बाद सावधान होऊँगा, तो कभी तुम (सावधान) होने वाले नहीं हो। जिसको अभी नहीं करना है उसको कभी नहीं करना है।

इतने बड़े नुकसान को नहीं देखता है जीवा। इसीलिये मूढता कहा है कि इतने बड़े नुकसान को नहीं देखता है। कि कितने काल तक तुम परिभ्रमण करोगे। अगर यह वर्तमान मनुष्यभव तुमने गवाँ दिया, खो दिया तो कितने लंबे काल तक अरबों के अरबों काल (वर्ष) तक तुम जन्म-मरण करते रहोगे। परिभ्रमण करते रहोगे। इतने बड़े नुकसान को तुम नहीं देखते हो क्या। इसीलिये कहते हैं कि अल्पकाल में शीघ्र ही सावधान हो जा तू, और अंदर में गुलाँट खानी है इसमें क्या आपत्ति है? तुमको ये थोड़ी कहते हैं कि तुम कुटुंब को छोड़कर चले जाओ! ये तो कहते नहीं। एक चीज को भी छोड़ने को नहीं बोलते। लेकिन एक शर्त है कि एक चीज में भी अपनत्व नहीं करना है। एक चीज को छोड़ना नहीं और कोई चीज में अपनत्व करना नहीं। जो गुलाँट खानी है वह तो अंदर में खानी है उसमें तुमको क्या आपत्ति है? बाहर में कुछ करना पड़े तो तकलीफ़ हो जाये (परंतु) अंदर में ही अंदर में परिणाम बदल जायेंगे तो किसी को पता भी नहीं चलेगा। पता किसको चलेगा? कि जिस पर बहुत प्यार किया है न उसको थोड़ा पता चल जायेगा कि अभी इनके भाव में थोड़ा फर्क दिखता है। Tone बदल गया है। क्या? पहले भी उसी नाम से पुकारते थे, अभी भी वही नाम से पुकारते हैं, लेकिन Tone में कुछ फर्क आ गया है। उनको पता चलेगा चलने दो उतना। चले तो उतना चलने दो।

मुमुक्षु:- उसके गुरु को भी पता चल जायेगा।

पूज्य भाईश्री:- ठीक है, उसमें क्या आपत्ति है? गुरु को तो कोई तकलीफ़ होने वाली नहीं है, गुरु को थोड़ी न तकलीफ़ होती है। तकलीफ़ तो जिस पर माया-ममता होती है, उस पर माया-ममता कम होती है, तो उसको थोड़ी तकलीफ़ होती है। लेकिन समझदारी से काम लो तो कोई आपत्ति नहीं है। (यहाँ तक रखते हैं)।

प्रवचन-5, दि. 27-03-1998

पत्रांक-528 (1) भावनगर

श्रीमद राजचन्द्र वचनामृत पत्रांक-528, पृष्ठ-423। किसके ऊपर लिखा हुआ पत्र है ये? नाम नहीं (लिखा है)। ज्ञानीपुरुष की बात करते हैं (कृपालुदेव) शुरुआत में। 'जिन्हें स्वप्न में भी संसार सुख की इच्छा नहीं रही, और जिन्हें संसार का स्वरूप सम्पूर्ण निःसारभूत भासित हुआ है, ऐसे ज्ञानीपुरुष भी बारम्बार आत्मावस्था को संभाल संभाल कर उदय प्राप्त प्रारब्ध का वेदन करते हैं, परन्तु आत्मावस्था के विषय में प्रमाद नहीं होने देते।' क्या कहते हैं? ज्ञानीपुरुष का परिणमन कैसा होता है? कि संसार में सुख है, इस प्रकार की इच्छा जागृत अवस्था में तो जिन्हें नहीं है पर स्वप्न में भी नहीं है, क्या?

देखो! ज्ञानी की बात करते हैं। संसार में तो सुख के, लौकिक सुख के बहुत प्रकार हैं। फिर भी ज्ञानी को कहीं भी सुख भासित नहीं होता, यानि लगता नहीं और इसकी इच्छा होती नहीं। अब अपने (परिणमन) को देखो तो (हमें) कितनी छोटी-छोटी बातों में अच्छापन लगता है। कि (दृष्टान्तरूप से) खिचड़ी अच्छी बन के आयी तो अच्छापन लग गया। अच्छापन लगता है इसका कारण सुखबुद्धि है। इसके पीछे जो अभिप्राय है वो सुखबुद्धि का है, भोक्तापने का है, अभिप्राय। प्रयोजन से ऐसे संबंध जोड़ना, वर्तमान प्रयोजन से संबंध जोड़ना।

पूज्य भाईश्री:- तुम्हारे लिये इसमें क्या आया?

मुमुक्षु:- इसमें मुझे...इष्ट-अनिष्टपना नहीं करना (है)।

पूज्य भाईश्री:- ऐसे ही गवार के साग में (करना), इसमें अनिष्टपना नहीं करना। अब कल mummy को बोल देना कि गवार का साग बनाना, सूखा ही बनाना, कैसा? गवार का साग बनाना और पूरा सूखा ही बनाना, देखना है मुझे (कि) क्या होता है। ये कृपालुदेव के एक पत्र में है, कठिन से कठिन साधन की पहले इच्छा करना, क्या?

ज्ञानी कि जिन्हें स्वप्न में भी संसारसुख की इच्छा रही नहीं। अतः ये कल्पना जो सुख की है, अज्ञान वश वह कल्पना नष्ट हो चुकी है। जगत के समस्त प्रकार की पर्यायों को धारण किये हुये पुद्गल परमाणु सुख से शून्य हैं। जड़ परमाणु हैं सभी, पुद्गल अर्थात् जड़ परमाणु हैं। वे किसी भी पर्याय-रूप परिणमन कर रहे हो, (फिर भी) सुख से शून्य हैं, सुख रहित हैं। उसमें इष्टपना-अनिष्टपना, वह सुख-बुद्धि के कारण है। इसमें अभिप्राय की भूल है, (उसमें) सुख का अभिप्राय है। यह अभिप्राय जिनका (ज्ञानी का) नष्ट हो गया है, क्योंकि उनका ज्ञान इतना स्पष्ट है कि सुख रहित (पदार्थों) को सुख रहित ही देखते हैं एक तरफ, दूसरी तरफ भीतर में से सुख का प्रवाह चालू है। और अनंत सुख के धाम को यानि स्वयं का अवलंबन लेते हैं। वह सुख का प्रवाह कब चलता है? कि 'अनंत सुखधाम स्वयं है' इसका अवलंबन लेने पर सुख का प्रवाह चलता है। दूसरी ओर (अन्य पदार्थ सुख से) बिल्कुल खाली दिखता है। अंदर में भरा हुआ दिखता है सुख, और बाहर में खाली दिखता है।

‘...और सम्पूर्ण निःसारभूत जिन्हें संसार का स्वरूप भासित हुआ है...’ लगा है, भासित हुआ है मतलब (लगा है) संसार निःसार अर्थात् निरर्थक (नक्कामा) लगा है। जगत में लोगों को अमुक वस्तु काम की है, ऐसा लगता रहता है। काम की भी वहाँ तक कि ‘संघर्षों सांप पण काम मां आवे’ (मरे हुये सांप को संभालकर रखा जाये तो वह भी बांधने के काम में आयेगा)। ऐसी सब कहावत लोगों ने बना ली है। अतः छोटी सी छोटी चीज बिल्कुल निकम्मी घर में पड़ी हो तो भी ऐसा कहेगा कि ‘(भाई) संग्रह किये जाओ कभी न कभी काम में आयेगी! होगी तो काम में आयेगी।’ अब इसके बदले (ज्ञानी को) सम्पूर्ण संसार का स्वरूप निःसारभूत यानि कि निरर्थक लगा है। इसमें रुपया-पैसा भी आ जाता है, सब अनुकूलतायें आ जाती हैं। सब निरर्थक हैं, आत्मा को कोई चीज काम में आती नहीं।

ये सब जो कल्पनायें हैं कि ये काम में आयेगा, ये काम में आयेगा, ये काम में आयेगा, आत्मा का मूल स्वरूप बहुत दूर है इससे। क्योंकि वहाँ तो ये सब है ही नहीं। दूसरी चीज के (रहने के) लिये कोई अवकाश ही नहीं है वहाँ तो, ऐसा अद्वैत स्वरूप है। अद्वैत यानि जहाँ द्वैत नहीं, दो-पना नहीं है। वहाँ दूसरी चीज काम की या बिना काम की ऐसी कल्पना होने का प्रश्न ही नहीं है। मूल स्वरूप तो स्वयं ही ऐसा है। (कल्पनाओं से) बहुत दूर है।

ऐसी स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान में जिन्हें पकड़ है, जिसके कारण बाकी सब निरर्थक भासित होता है। ऐसे ज्ञानीपुरुष भी उदय में वारंवार आत्मावस्था को संभाल-संभालकर उदय का वेदन करते हैं यानि कि उदय में चलते हैं और सावधान रहकर (चलते हैं)। क्या बात आयी? कि स्वयं ज्ञानदशा को प्राप्त हुये हैं, फिर भी (उन्हें) परिणमन में सावधानी कितनी है, यदि ज्ञानी को इतनी सावधानी है तो मुमुक्षु को कितनी (सावधानी) रखनी चाहिए। इस तरह हिसाब लगाना चाहिये, मुमुक्षु को। बात भले ही ज्ञानदशा की चलती है पर मुमुक्षु को (इस बात का) अनुसंधान कैसे करना चाहिये? ये बात किसको कहते हैं? मुमुक्षु को पत्र लिखते हैं, पत्र तो मुमुक्षु को लिखते हैं न? ये सब ज्ञानी के साथ चर्चा नहीं करते हैं। कि ज्ञानी भी इतनी अधिक सावधानी रखकर चलते हैं, उदय के अंदर इतनी अधिक सावधानी रखते हैं कि स्वयं की आत्मावस्था को संभालते हैं।

‘...और आत्मावस्था के विषय...’ यानि कि आत्मा का अवलंबन लेकर चलती अवस्था, वह आत्मावस्था है। आत्मावस्था यानि आत्मा के अवलंबनपूर्वक चलती जो अवस्था है, वह आत्मावस्था (कही जाती है)। उसमें ‘...प्रमाद नहीं होने देते।’ इसमें बिल्कुल ढील नहीं छोड़ते। ऐसी अंदर (स्वरूप की) पकड़ है। स्वरूप के अवलंबन की ऐसी पकड़ है कि उसमें प्रमाद होने देते नहीं। और (बाहर में) उदय आता है, जितना उदय बलवानरूप से आता है उतनी यहाँ (भीतर में) बलवानरूप से सावधानी आती है। जितना बलवानरूप उदय आता है उतनी बलवानरूप से (स्वरूप की) सावधानी आती है।

आप गाड़ी चलाते हो और भीड़वाला area आ गया। जब बिल्कुल खाली रास्ता था तब तो आपने बहुत तेजी से (बेफाम) गाड़ी चलायी, बराबर? सरसराट भगाई (परंतु) जैसे ही भीड़वाला area आया तो, सावधानी रखी या नहीं रखी? दूर से ही break मारकर गाड़ी को धीमी करना चालू कर दिया।

यह तो आप दूसरे विचार करते हो तब भी इतना काम तो कर ही सकते हो। वहाँ तो दूसरे विचार में भी चले जाते हो, ऐसा नहीं है कि एक ही ओर ध्यान रहे। फिर भी, इतनी सावधानी आती है।

ऐसे (ज्ञानीपुरुष) उदय के कार्य करते-करते भी आत्मावस्था को सम्भालते हैं और उसमें ढीलापन नहीं आने देते। उदय कठिन आये तो, और दरकार, और बलवानपना, और सावधानी (में आते हैं)। यह एक परिणामन की कार्यपद्धति है।

परिणामन विषयक हम चर्चा कर रहे हैं तो यह एक महत्व का मुद्दा है, मुमुक्षु के लिये भी, ज्ञानी को तो है ही। अगर मुमुक्षु यहाँ भूल करे तो उसे स्वयं के परिणाम पकड़ में नहीं आते। अगर स्वयं के परिणाम की, परिणामन की इसकी सावधानी नहीं होगी, क्योंकि नुकसान तो यहीं करता है, उदय में ही करता है मुमुक्षु, यदि इसकी सावधानी नहीं होगी, दरकार नहीं होगी तो ये परिणाम कैसे चले गये, ये कुछ उसको पकड़ में नहीं आयेगा। और अगर पकड़ में आयेगा तो इसके बहुत से पहलू खुलेंगे। अगर सावधानी होगी तो इसके अनेक पहलू खुलेंगे। और कौन-कौन से पहलू खुलेंगे? ये दरकार रखकर समझने जैसा विषय है। क्या? दरकार करके समझने जैसा विषय है।

(आगे कहते हैं) ‘...प्रमाद के अवकाश योग में...’ अर्थात् ज्ञानी भी अगर शिथिलता रखे तो, ‘...ज्ञानी को भी अंशतः व्यामोह होने का संभव जिस संसार में कहा है, उस संसार में साधारण जीव रहकर, उसका व्यवसाय लौकिक भाव से करके आत्महित की इच्छा करे, यह न होने जैसा ही कार्य है;...’ कितनी सुंदर बात लिखी है। पत्र चाहे किसी को भी लिखा हो लेकिन (हमें भी) लागू पड़े ऐसी बात है। देखो! भगवान ने तो ऐसा कहा है कि ज्ञानी भी अगर प्रमाद करें, शिथिलता में आये तो उन्हें भी कुछ अंश में व्यामोह होता है, चारित्र मोह होता है। और ज्यादा शिथिलता में आये तो दर्शन मोह में आ जाने में देर लगती नहीं, ऐसी संभावना है। इन्हें संसार के कार्य और उदय इस प्रकार के होते हैं, क्या?

28 वें वर्ष में एक पत्र में (पत्रांक-453) लिखते हैं कि मान मान गोते खाते-खाते संसार-समुद्र को तिरते हैं। संसार तो तिरते हैं लेकिन कभी गोता खा जाते हैं। और कितने ही उदय ऐसे आते हैं कि धड़ पर सिर न रहे, (कठिन हो जाये) ऐसे भी उदय आते हैं। क्या? उस वक्त (ज्ञानी) स्वयं भी बहुत संभलकर चलते हैं।

मुमुक्षु:- जनक महाराज का अवलम्बन नहीं लेना...

पूज्य श्रीभाईश्री:- हाँ, उनका अवलम्बन नहीं लूँगा ऐसा कहते हैं। क्या? तीर्थकर का अवलम्बन लूँगा लेकिन जनक महाराजा का (अवलम्बन) नहीं लूँगा। तीर्थकर के त्याग का (अवलम्बन) लूँगा, और पुरुषार्थ का (अवलम्बन) लूँगा। जबकि जनक महाराजा भी पुरुषार्थ करते थे तब विदेही दशा में रहते थे।

मुमुक्षु:- अष्टावक्रजी थे उनके गुरु...

पूज्य श्रीभाईश्री:- हाँ, उनका (अष्टावक्रजी का) अवलम्बन था उन्हें।

रामचंद्रजी के ससुर थे जनक राजा, महाज्ञानी थे। ससुर-दामाद दोनों ज्ञानी। सीताजी भी ज्ञानी, बेटी भी ज्ञानी, वे भी ज्ञानी थे। उस समय उनको (कृपालुदेव को) यह मालूम है कि जनक राजा सहजरूप से इस तरीके से राज-काज में ज्ञानदशा में रह सकते थे, उसका एक तो बड़ा कारण यह था कि उनके गुरु विद्यमान थे। क्या? अष्टावक्रजी उनके जो गुरु थे, वे विद्यमान थे। अष्टावक्र नाम, ये शरीर के अनुरूप उनका नाम था। शरीर के आठों अंग टेढ़े थे। कितने? आठों अंग टेढ़े (थे)। सामान्य मनुष्य देखे इन्हें तो उनको हँसी आ जाये, इतनी अधिक बेडौल चाल थी, क्या? लेकिन वे (इतने) जबरदस्त ज्ञानी थे कि जनक महाराजा जैसे महाज्ञानी (भी) उनका अवलंबन लेते थे! कितने हजारों वर्ष पहले जो ज्ञानी हुये, उनके परिणामन को किस तरह पकड़ते होंगे कृपालुदेव, किस तरह पकड़ा है परिणामन को।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य श्रीभाईश्री:- हाँ, उनके (अष्टावक्रजी के) शरण में आ गये थे। ज्ञानदशा में गुरुचरण में रहते थे। फिर कठिनाई नहीं थी, फिर कठिनाई नहीं आती थी, ऐसा है। प्रत्यक्ष गुरु और गुरु उपदेश का अवलंबन और वह भी विनम्र होकर उनकी शरण स्वीकार की थी, ऐसा कहते हैं। क्या? (स्वयं ने) उनकी शरण स्वीकार की थी। 'मैं तो ज्ञानी हूँ' ऐसा नहीं। उनकी शरण में रहते थे। इसीलिये सुखपूर्वक (संसार) तिर गये। वरना ये संसार तिरना ये कोई ऐसी-वैसी बात नहीं है।

क्या कहते हैं? कि ज्ञानी को भी व्यामोह होने का संभव जिस संसार से रहा है, सांसारिक प्रसंगों से रहा है, ऐसे इस संसार में साधारण मुमुक्षु-जीव रहकर और उनके व्यवसाय यानि उनके कार्य लौकिकभाव से करते हुये, साथ-साथ आत्मा के हित की इच्छा रखना, यह नहीं बनने जैसा ही कार्य है। यह नहीं बन सकता। क्या कहने का तात्पर्य है? कि एक बार तो उसे पूरे संसार को गौण करना ही होगा। जो होना हो वो भले हो, इस तरह एक बार तो kick मारनी होगी। 'मैं मेरा काम कर लूँ। वरना ये संसार के व्यवसाय की सावधानी मुझे स्वरूप में सावधान नहीं होने देगी।' ऐसा स्पष्ट भासित हो और स्पष्ट नुकसान दिखे तो (संसार के कार्यों का) तो जो होने वाला होगा सो होगा, कुछ control में आनेवाला है नहीं। लेकिन मेरी ये सावधानी मुझे बड़ा नुकसान कर देगी। (इस प्रकार) एक बार तो लात मार देगा, और अपने निज कार्य में सावधान हो जायेगा। वरना तो नहीं बन सके ऐसा ही ये कार्य है। (संसार के कार्यों में से) निकल ही नहीं सकता।

‘...क्योंकि लौकिकभाव के कारण जहाँ आत्मा को निवृत्ति नहीं होती, वहाँ हितविचारणा अन्य प्रकार से होना संभव नहीं है।’ वहाँ आत्मा के हित की बात है वह मुख्य हो सकती नहीं। लौकिकभाव की आड़ में, उसकी मुख्यता में से आत्मा निकलता नहीं है। आत्मा को निवृत्ति नहीं होती यानि क्या? कि उसमें से आत्मा निकलता नहीं। आत्महित की अधिकता? या जिसमें अहित होता है ऐसे कोई दूसरे परिणाम की, दूसरे कार्य की, दूसरे प्रसंग की या दूसरी वस्तु की अधिकता? ऐसे तुलना करनी पड़ेगी।

और ऐसे निश्चय पर आना पड़ेगा कि जब तक आत्मकार्य-आत्महित और आत्मा सर्वाधिक नहीं हो तब तक आत्मकार्य होने की कोई परिस्थिति है ही नहीं। वजन जाने के उपर बहुत आधार है। कहने का मतलब क्या है? कि मुख्यता होना, वजन जाना, रस आना ये सब एकार्थ हैं। इस पर बहुत आधार है।

कृपालुदेव ने 254 पत्र लिखकर मुमुक्षुओं को पदार्थ निर्णय तक पहुँचाया। वह इसीलिये कि एक बार यदि पदार्थ का स्वरूप भासित हो गया तो इसकी अधिकता इतनी आती है कि फिर वह अधिकता छूटती नहीं। इसके पहले जो अधिकता विपरीत दिशा की रहती है उसे छोड़ना मुमुक्षु के लिये कठिन काम है। नहीं हो सके ऐसा नहीं है, किन्तु कठिन काम है। और एक आत्मकल्याण की तीव्र भावना हो और स्वयं का ध्येय स्पष्ट हो कि इतना बड़ा मुझे लाभ होनेवाला है! एकदम clear, इतना बड़ा लाभ होने वाला है तभी दूसरा सब गौण होगा। पूर्णता के लक्ष बिना संसार के कार्य करना और उसमें से निकलना, उस व्यामोह में से छूटना यह न बन सके ऐसी बात है।

‘वहाँ हित विचारणा अन्य प्रकार से होना संभव नहीं है।’ क्या? कहते हैं कि आत्महित की मुख्यता कैसे कर सकता है मुमुक्षु? क्या? ‘(यदि) एक की निवृत्ति हो...’ यानि लौकिक भाव की निवृत्ति, क्या? ‘...तो दूसरे का परिणाम होना संभव है।’ तो आत्मा के हित की विचारणा होना संभवित है। लौकिक भाव की निवृत्ति तभी होती है, कि (जब) एक ही लक्ष हो, एक ही ध्येय हो और एकनिष्ठा से (आत्महित का) काम करने के लिये एक लय से पीछे लगा हो, तब नहीं तो दूसरी कल्पनायें बीच में आये बिना रहेगी नहीं और जीव छूट सकेगा नहीं, उन सब में से जीव छूट नहीं सकता।

‘...यदि एक की निवृत्ति हो तो दूसरे का परिणाम होना संभव है। अहित हेतु ऐसे संसार संबंधी प्रसंग...’ क्या? उदय जो आते हैं वे किस प्रकार के आते हैं? अहित हेतु आते हैं। चाहे अनुकूलता के आये कि चाहे प्रतिकूलता के आये। जीव को उसमें अपनत्व हुआ तो वह अहित के हेतु है। वह अहित का कारण है। हेतु यानि कारण।

‘...अहित हेतु ऐसे संसार संबंधी प्रसंग, लौकिकभाव, लोकचेष्टा इन सबकी संभाल यथासंभव छोड़ करके...’ देखा? सावधानी तोड़ने की बात आयी। यह सावधानी कैसे मिटे? कि निरर्थक है, ऐसा जाने तब, क्या? कोई ऐसा कहे कि आप ये एक काम करेंगे तो बहुत पैसा मिल जायेगा और आप तो आसानी से कर सके ऐसी आपकी position है। तब क्या विचार आना चाहिये? सामान्य मनुष्य को तो ऐसा ही लगेगा कि फिर तो कर ही लेना चाहिये न! सहजता से होता हो और बड़ा लाभ होता हो तो इसमें क्या है? कर (ही) लेना। जिसे अंतर वैराग्य है उसे ऐसा लगेगा कि (रुपये) आये तो भी किस काम के? ये तो निरर्थक है। आया (रुपया), जो है उसमें बढ़ गया, क्या हुआ? पर क्या काम का? काम का तो कुछ है नहीं, काम में तो कुछ आनेवाले है नहीं। (फिर) उसका काम क्या? जो जरूरत से अधिक पड़े रहे वे किस काम के? वे तो बेकार ही हैं न, किस काम के हैं? कहिये वे तो कुछ काम के नहीं होते। वे तो वैसे भी फिजूल हैं। इसकी व्यर्थता दिखे तो रस नहीं आयेगा, वरना रस आये बिना रहेगा नहीं। इसीलिये

पहले से ये बात ली है कि ‘...निःसारभूत ऐसा जो संसार का स्वरूप जिन्हें भासित हुआ है...’ संसार में कौन नहीं फँसेगा? कि जिसे व्यर्थ भासित हुआ हो, वह।

मुमुक्षु:- भाईश्री, जिसे पैसे की shortfall हो उसको यह कैसे लेनी?

पूज्य भाईश्री:- (पैसे की) shortfall भी कल्पना ही तो है न, और क्या है? आपका जो उदय है, उसके अनुसार जो बनता है उसमें आप अपने व्यवसाय को, आपकी रहन-सहन को (परिस्थिति के अनुरूप) accomodate करो, फिर shortfall कहाँ की? अगर सौ रुपया की आमदनी हो तो सौ रुपये में चलाओ, हजार रुपये की आमदनी हो तो हजार में चलाओ, नौ सौ में चलाओ, पाँच हजार की आमदनी हो तो चार हजार में चलाओ, फिर (पैसे की) shortfall कहाँ से? बाकी तो दस हजार की आमदनी हो और बारह हजार का खर्चा रखकर बैठोगे तो shortfall ही होगी न! दुनिया में छोटी-बड़ी आमदनी वाले सब मनुष्य जीते हैं कि नहीं? कोई मर जाते हैं? आपको आठ हजार की आमदनी है मान लीजिये और एक नौकरी करने वाले को आठ सौ की आमदनी है, तो क्या आठ सौ की आमदनी वाला मर जाता है कि जिंदा रहता है? क्या? आठ सौ वाला भी जीता है, आठ हजार वाला भी जीता है और अस्सी हजार वाला भी जीता है। सबकी कल्पनाएँ अलग-अलग हैं, उसमें और है क्या!

मुमुक्षु:- Status की Problem आड़े आती है।

पूज्य भाईश्री:- इसीलिये ही ऐसा कहते हैं कि लौकिक भाव की मुख्यता में आत्मकल्याण कभी नहीं होगा। आठ सौ मिलेगा तब भी नहीं होगा और अस्सी हजार मिलेगा तब भी यह नहीं होगा। तब भी यह नहीं होगा, क्योंकि उस दिन (जरूरियातों की) list लम्बी हो गयी होगी। एक नौकरी करने वाले आदमी की हर रोज की खरीद दारी की list और एक महल में रहने वाले राजा-महाराजा की रोज की खरीद दारी की list (को) compare करे तो, किसका list बड़ा होगा? महलवाले का। जितनी list बड़ी उतनी उपाधि उसको ज्यादा है, सीधी बात है।

मुमुक्षु:- गुरुदेव ‘बड़ा भिखारी है’ ऐसा कहते थे।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, बड़ा भिखारी है।

(गुरुदेवश्री ने) भावनगर के महाराजा को ही (बड़ा भिखारी) कहा था। कृष्णकुमारसिंहजी व्याख्यान सुनने आये थे। गुरुदेवश्री तो किसी को ‘साहब, वाहब’ कुछ कहते नहीं, दरबार ही कहते थे उन्हें। गरासिया को दरबार कहते हैं न! ‘दरबार’, जो ज्यादा माँगे वह बड़ा भिखारी और जो कम माँगे वह छोटा भिखारी। इसीलिये राजा-महाराजा को हम तो भिखारी ही देखते हैं, ऐसा कहते थे। भिखारी है ऐसा देखते थे। हमारी दृष्टि तो ऐसी है। (गुरुदेव श्री कहते) हमें कहाँ fund इकट्ठा करने जाना है कि किसी को मक्खन लगाये। वे तो राजा-महाराजा, श्रीमंत, सेठिया सामने बैठे हो तो कोड़े फटकारते थे। अपेक्षा हो तो दीनता आती है कि सामने वाले को खराब लग जायेगा तो, उसको जो लगना है वो लगे। वस्तु

का स्वरूप तो ये है। तुझे संसार से छूटने की गरज है? और गरज है तो कितनी है? यह हमें test करना है। फिर बात करने का विचार है, नहीं तो बात भी करनी नहीं है, ऐसा है, ऐसी बात है। ‘...अहितहेतु ऐसे संसार संबंधी प्रसंग, लौकिकभाव, लोकचेष्टा इन सबकी संभाल यथासंभव छोड़ करके...’ यानि सब गौण कर देना। इसकी कोई कीमत नहीं है, इसकी कोई कीमत नहीं है। जगत की आबरू मुख की लार जैसी है, ज्ञानी के लिये आता है? बनारसीदासजी के (पदमें आता है), ‘लोकलाज लारसी’ वह कुछ है ही नहीं, इसकी कोई कीमत ही नहीं है। लोगों को नाक आड़े आता है। बाकी तो कुछ है ही नहीं, (लोकलाज) कुछ चीज ही नहीं है, ये तो कल्पना के सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं। आपको कितने लोग पहचानते हैं ये कहो? गिनती करें तो कितने होंगे? 25-50-100-200-500 बस! खास करके कोई मर जाता है तब लोग इकट्ठे होते हैं न, कहते हैं इस भाई की शमशान यात्रा में बहुत लोग थे। (ज्यादा से ज्यादा) कितने होंगे? 200-500-1000 बस न, हो गया न।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- वहाँ तो हमारी पहचान वाले कितने? फलाने भाई मर गये, चलो हम ज़रा हो आते हैं। शमशान हो आते हैं पहचान वाले हो तभी तो जाते हैं न, बिल्कुल अनजान हो तो थोड़ी जाते हैं? ज्यादा से ज्यादा आपको पहचानने वाले कितने? और यदि आप मोक्षमार्ग में प्रवेश करो तो अनंत सिद्ध आपको पहचानेंगे कितने? अनंत सिद्धों के ज्ञान में आप आयेंगे। वाह वाह! शाबाश है दोस्त तुझे, अब हमारा दोस्त हो जायेगा तू। अल्पकाल में तू हमारी पंक्ति में, हमारी बिरादरी में, एक line में आकर बैठ जायेगा। तो ये आबरू बड़ी? या ये (जगत के) सब भिखारी हमें जाने ये आबरू बड़ी? कौनसी आबरू बड़ी? ऐसे ही इंसान (मनुष्य) किस तरह फँस जाता है, अनंत सिद्ध जानेंगे कि ये आत्मा सिद्ध होने वाला है। हमारी पंक्ति में बैठेगा। खाने में एक पंगत में कौन बैठते हैं? ढेढ़-भंगी को तो साथ में नहीं बिठायेंगे, बनिये-बनिये के साथ बैठेंगे, ब्राह्मण-ब्राह्मण के साथ बैठेंगे। वैसे भगवान की-सिद्धों की पंगत में कौन बैठेगा? जो सिद्ध होगा वह बैठेगा। तो वो इज्जत बड़ी है या जगत के भिखारी लोग जाने-पहचाने वह इज्जत बड़ी है? कौनसी इज्जत बड़ी? कौनसी इज्जत बड़ी है? बात तो ऐसी है।

लोग अच्छा बोले, लोग हमारी तारीफ करें, हमारा कोई बुरा न बोले, इस लौकिक भाव की मुख्यता में से मनुष्य निकलता नहीं है। जो बिल्कुल बेकार चीज है और अहित हेतु है। कैसी है? अहित हेतु है।

मुमुक्षु:- आपने डायरी में लिखा है कि वह जीव सत्य को बेचकर आत्मघात करता है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ ऐसा ही है।

‘...इन सबकी संभाल यथासंभव छोड़ करके...’ यानि कि पुरुषार्थ करके। ‘यथासंभव’ यानि चाहे जितना पुरुषार्थ करके भी वह सावधानी छोड़नी है। ‘...उसे कम करके आत्महित को अवकाश देना योग्य है।’ आत्मकल्याण हो, आत्मा का हित हो, इसके लिये पहले जगह करनी होगी। अवकाश

यानि इसके लिये खाली जगह होनी चाहिये। अभी तो खाली जगह ही नहीं है, आत्मा का हित होने के लिये। ऐसी परिस्थिति में खड़ा है।

एक आत्मकल्याण की भावना और वृत्ति तीव्र होगी तो सब जगह से हटने लगेगा और सब कुछ संक्षेप होने लगेगा। फिर अहित हेतु ऐसा जो संसार प्रसंग, संसार की वस्तुओं से संक्षेप करने लगेगा। इतना मार्गदर्शन देने के बाद, इसमें तो क्या है कि पूरा समाज प्रतिबंध छुड़ाया है। लौकिकभाव ही छुड़ाया है। 'इस समाज में जो लोग मुझे पहचानते हैं, उनकी नजर में मैं ऐसा।' ये बात ही छुड़ा दी है। ये कल्पना नाश कर देने जैसी है। कल्पना ही नाश कर देने जैसी है। (इसे) चौकड़ी लगा देना।

मुमुक्षु:- आपश्री ने डायरी में लिखा है कि जो लोगों के अभिप्राय पर जीता है उसको स्वयं में श्रद्धा नहीं है।

पूज्य भाईश्री:- उसको स्वयं की ही श्रद्धा नहीं है। लोगों के अभिप्राय पर जीने वाला कितना दुःखी होगा इसका कोई हिसाब ही नहीं है। इसीलिये (कृपालुदेव ने) उसे कालकूट ज़हर कहा है। क्योंकि इसमें एक खराब से खराब तत्त्व यह है कि जीव को स्वसन्मुख होकर जो सुख-शांति मिलनी चाहिये, इससे बहुत विरुद्ध (दिशा में) ये परिणाम जाते हैं। इससे अति विरुद्ध ये परिणाम जाते हैं। परसन्मुखता छोड़ ही नहीं सकता। लोगों के अभिप्राय पर जीने वाला परसन्मुखता छोड़ ही नहीं सकता और स्वसन्मुखता के पुरुषार्थ में आ ही नहीं सकता। ऐसी एक जबरदस्त पकड़, लोगों के अभिप्राय पर जीने वाले जीवों के भाव में होती है। बहुत बड़ी पकड़ है। इसमें पूरी परतंत्रता है।

ये देखो, बड़े-बड़े नेता झोंपड़पट्टी में जाकर गरज क्यों दिखाते हैं? कि आप हमें मत दीजियेगा, हम आपका काम करेंगे भाईसाहब। हम आपका काम करने के लिये आये हैं। हम आपके घर आये हैं। आप तो हमारे फलाने हैं, आप तो हमारे फलाने हैं। सच्चे राजा तो आप ही हो हमारे ऐसा-ऐसा कहेंगे। गुजरात की प्रजा ही हमारा राजा है-ऐसा कुछ-कुछ बोलेंगे। कितनी दीनता करते हैं वे बिचारे। उन्हें ज्यादा से ज्यादा परतंत्रता होती है। लौकिक भाव में विशेषरूप से आते हैं। जो सामाजिक नेता होते हैं वे ज्यादा से ज्यादा लौकिक भाव में होते हैं। और बहुत जल्दी अधोगति में जाते हैं वो जीव। उन लोगों का प्रकार ऐसा है। इसीलिये इसकी तो स्वप्न में भी इच्छा नहीं करना।

तीन लोक का नाथ अंदर में बैठा है और एक municipality chamber के चुनाव जैसे में पूरा पूरा बिक जाता है। खबोचिया जितना क्षेत्र होता है, फिर भी। भावनगर की municipality कितनी गिनी जायेगी पूरे जगत की विशालता के आगे? छोटा डबरा जितनी (गिनी जायेगी)। अब इसके चुनाव की धमाधम करता हो! Chamber के चुनाव में धमाधम करता हो, क्या हो गया है तुझे? इसमें दीनता का पार नहीं है।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- ...co-operation में नहीं आता...किस दिन number आयेगा, तुम जो 40-50 वर्ष municipality का चुनाव लड़ता हो तो तुम्हारा number किस दिन आयेगा? ...तो पूरा हो गया, इसके पहले या तो आप खतम हो जाने वाले हो या खतम होने जैसे हो जायेंगे।

इसीलिये तो इसमें बेकार में हैरान होने के सिवाय, दुःखी होने के सिवाय और कुछ नहीं होता। और इस दौरान में कर्म कितने बांधे, उसका कोई हिसाब है कुछ? ऐसी वह line है।

हम बाज़ार में बैठते थे न, कोई दिन association की meeting में-committee में या दूसरी-तीसरी जगह कभी जाते ही नहीं थे। दलाल के चौराहे पर भी कभी नहीं बैठते थे। कोई काम हो तो दलाल के साथ telephone पर बात कर लेते थे कि ये सौदा है, तुझे offer देता हूँ, लेना हो या बेचना हो, (तो बता देना)। पंचायत करने, फिज़ूल की बात करने पाँच minute जाकर के कहीं बैठते नहीं थे।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- अब सत्संग के उपर बात करते हैं, इस पत्र में दूसरे पारोग्राफ से कि 'आत्महित के लिये सत्संग जैसा बलवान अन्य कोई निमित्त प्रतीत नहीं होता...' बहुत से पत्रों में उन्होंने अलग-अलग प्रकार से ध्यान खींचा है और सत्संग के गीत गाये हैं। फिर (सत्संग) क्यों निष्फल जाता है? ये सब बातें की है। यहाँ तक रखते हैं। विशेष लेंगे...

प्रवचन-6, दि. 28-03-1998

पत्रांक-528 (2), भावनगर

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्रांक-528, पन्ना-423। इस पत्र में जीव के लौकिकभाव का निषेध किया है। जीव को लौकिकभाव रहते हैं, लोकदृष्टि रहती है, इससे लोकचेष्टा करता है। चेष्टा करता है यानि अपना दिखाव अच्छा करने का प्रयास हो जाता है। यह आत्महित का घातक भाव है। आत्मा को आगे बढ़ने में बहुत बड़ा अवरोध है। और इस दोष की पहुँच कहाँ तक है? कि सत्संग में भी यह दोष हो जाता है, इसकी बात करते हैं।

कि 'आत्महित के लिये सत्संग जैसा बलवान अन्य कोई निमित्त प्रतीत नहीं होता,...' क्या कहते हैं? कि सत्संग तो एक ऐसा बलवान साधन है कि जिससे आत्महित होता है, अवश्य होता है। यदि यथार्थरूप से इसकी उपासना की जाये तो (अवश्य आत्महित होता है)। '...फिर भी वह सत्संग भी...' अर्थात् यह साधन भी '...जो जीव लौकिकभाव से अवकाश नहीं लेता, उसके लिये प्रायः निष्फल होता है,...' (सत्संगमें) इसमें भी लौकिकभाव आ जाता है। अतः वहाँ भी अपनी इज्जत, अपना दिखाव, अपना स्थान, मान इत्यादि प्रकार अंदर में रहते हो तो वह सत्संग भी निष्फल जाता है।

'...और सत्संग कुछ सफल हुआ हो,...' यानि कि थोड़ा-बहुत फायदा हुआ हो, '...तो भी यदि विशेष-विशेष लोकावेश रहता हो तो उस फल के निर्मूल हो जाने में देर नहीं लगती,...' (अर्थात्) वह फायदा भी चला जायेगा यानि कि सत्संग के कारण जो थोड़ी योग्यता आयी होगी वह योग्यता चली जायेगी। किस कारण से? कि लोकावेश के कारण से चली जायेगी।

मुमुक्षु:- लोकावेश में क्या लेना?

पूज्य भाईश्री:- लोकावेश यानि लोगों के बीच या जो circle हो, group हो, जैसे मानो अपने यहाँ 25-30 लोग इकट्ठे होते हैं, उन लोगों के बीच या अपनी जान-पहचान वाले में जो भी अपनी छाप हो, उसमें अपना दिखाव बराबर होना चाहिये, रहना चाहिये। इस प्रकार का जो प्रयास है वह लोकावेश है।

मुमुक्षु:- भाईश्री, जैसे मानो एक घर में दूसरा मुमुक्षु साथ में रहता हो वह मुमुक्षु दोष करता हो और वह दोष मुझे दिखता हो। अब इसमें मेरा भी परलक्ष होता है और परिणाम तो बिगड़ते हैं। अब यदि मुझे निर्दोष होना है इसीलिये जाहिर में सबके बीच उस परिणाम सम्बन्धित आपसे कुछ पूछना है, लेकिन पूछने के लिये मेरे परिणाम नहीं चलते हैं तो क्या यह लौकिकभाव में जायेगा?

पूज्य भाईश्री:- इसमें check (जाँच) करना चाहिये कि किस कारण से (पूछने के परिणाम) नहीं चलते हैं? प्रतिबंध के कारण नहीं चलते हैं या लौकिकभाव के कारण नहीं चलते हैं? वैसे अपने परिणाम के पीछे निहित अभिप्राय को पकड़ना चाहिये।

मुमुक्षु:- मुझे पूर्ण निर्दोष होना है इस निर्णय में ढीलापन होने से बोलने में नहीं आ रहा है?

पूज्य भाईश्री:- इसमें क्या है कि मुझे निर्दोष होना है, इस प्रकार का बल (परिणाम में) नहीं है।

मुमुक्षु:- प्रसंग की बात करने जाये तो उसका नाम देना पड़े कि उसकी वजह से मेरे ऐसे परिणाम होते हैं। अब मुझे तो पूर्ण निर्दोष होना है परंतु मैं मेरे परिणाम यदि जाहिर में सबके बीच नहीं कहता हूँ तो क्या इसका मतलब यह हुआ कि मुझे ही पूर्ण निर्दोष नहीं होना है?

पूज्य भाईश्री:- जो क्षोभ हो रहा है-उस क्षोभ के पीछे कोई न कोई कारण स्वयं का चलता है, तभी ऐसा होता है न! तो यदि (निर्दोष होने के निर्णय का) बल पैदा हो तो क्षोभ नहीं रहेगा। बल उत्पन्न होगा तो क्षोभ नहीं होगा।

मुमुक्षु:- (बल आने पर) फिर मुझे भय नहीं रहेगा कि उसको क्या लगेगा। उसका जो होना हो सो हो मुझे निर्दोष होना है।

पूज्य भाईश्री:- मान लो उसको कुछ हुआ, संभव है कि उसको यह नहीं अच्छा लगा कि आपको निर्दोष होने के साथ-साथ मेरी बात भी आप बीच में ले आये और मेरी बातें खुल्ली कर दी, जो मैं नहीं चाहता था, ऐसा दुःख लगने का संभव जरूर है, बुरा लगने का संभव जरूर है। तो हमें माफी माँग लेनी चाहिये कि मैंने निर्दोष होने के एक प्रयास रूप यह प्रवृत्ति की है। आपके परिणाम या आपके दोष को प्रगट करने का मेरी प्रवृत्ति के पीछे हेतु नहीं था। ऐसा मैं शुद्ध अंतःकरण से कहता हूँ और वैसा ही शुद्ध अंतःकरण होना भी चाहिये। फिर भी अगर आपको इस बात का दुःख पहुँचा और वह भी मेरे निमित्त से पहुँचा तो मैं क्षमा माँगता हूँ। ऐसे माफी भी माँग लेनी चाहिये, दोनों बात है।

मुमुक्षु:- लेकिन क्या कहना तो चाहिये ही?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, इसमें कोई दिक्कत नहीं। स्वयं का निर्दोष होने का प्रयत्न करने में कोई हरजा नहीं। ऐसा प्रयत्न करने में हरजा नहीं है। मानो कि कुटुंब का सदस्य है और ऐसा लगता हो कि उसे सुल्टा नहीं पड़ेगा बल्कि उल्टा पड़ेगा और उसे नुकसान होगा, क्योंकि उल्टा पड़ने पर उसके परिणाम में नुकसान तो अवश्य होगा ही; तो ऐसी परिस्थिति में एक दफा आपस में चर्चा कर लेनी चाहिये कि मुझे ये नुकसान हो रहा है और हमारा साथ रहने का जो ये योग है, इसके कारण से ये सब अनिवार्यरूप से नुकसान होता है। इसमें आपका भी नुकसान है और मेरा भी नुकसान है और मुझे इस नुकसान से बचना है तो क्या किया जाये? आपकी बात बीच में आ जायेगी तो क्या करे? बोलिये आपकी कितनी तैयारी है, ये देख लो, इस प्रकार थोड़ी निखालिसता से चर्चा भी कर लेनी चाहिये। इसमें फिर अगर सामनेवाला ऐसा कहे कि आप अपना निर्दोष होने का कोई दूसरा रास्ता पकड़ो, मेरी बात बीच में मत लाओ! तो फिर इसका दूसरा रास्ता भी है। दूसरा रास्ता ही नहीं, ऐसा नहीं है। अपना परलक्ष मिताने का दूसरा रास्ता भी है।

मुमुक्षु:- भाईश्री एक और प्रश्न है, कि जीव जो ऐसे ही डरते रहे.....

पूज्य भाईश्री:- नही, डरने का सवाल ही नही है इसमें, इसमें तो यथार्थ रूप से हम किस प्रकार से निर्दोषता के मार्ग में आगे बढ़े, इतना ही विचारना है।

मुमुक्षु:- इसमें check भी करना चाहिये, क्योंकि दूसरा जीव जिसके दोष हम कहते है और वो हमारा family member नही हो, और दूसरे जानते हो, तब दूसरे का बिंदास सबके सामने कह सकती हूँ, लेकिन family का नही कहती तो ये प्रतिबंध में जायेगा?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, ये प्रतिबंध में जायेगा, स्पष्टरूप से ये तो प्रतिबंध में जायेगा।

मुमुक्षु:- और तब पूछती भी नही कि ये कहूँ या नही कहूँ

पूज्य भाईश्री:- इसीलिये तो family member की बात करने में जहाँ दिक्कत होती है, वो प्रतिबंध का कारण है, ये बात स्पष्ट है।

मुमुक्षु:- भाईश्री, उसका दूसरा रास्ता क्या है?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, इसका दूसरा रास्ता यह है कि तेरा दोष तेरे कारण से है। उस जीव के दोष के कारण से तो तेरा दोष नहीं है। इस तरह बात को (स्वलक्ष से) लो न, तेरा दोष किस कारण से है? अपने कारण से है। सामनेवाला तो दोष होने में उदयरूप निमित्त है। तेरा दोष यदि तुझे मिटाना है तो तू स्वलक्षपूर्वक तेरे परलक्ष को मिटा। तुम स्वलक्ष में रहो ना।

मुमुक्षु:- ये तो फिर जाहीर में नही कहते.....

पूज्य भाईश्री:- नही कहे तो नही कर न.....

मुमुक्षु:- स्वयं के छूटने के लिये समाधान के लिये personal में करना चाहिये।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, ये तो अंगत चर्चा करने की कहाँ न है।

मुमुक्षु:- भाईश्री, मेरा कोई दोष हो और दूसरा कोई मुझे कहता हो और मुझे जो सब निकालना हो जाहीर में और मैं ये सब नही करूँ, तो मैं मुमुक्षु कहने लायक हूँ, क्या? या personal में करना चाहिये?

पूज्य भाईश्री:- Personal में इसीलिये करना चाहिये, कि इसे स्वयं को दुःख पहुँचता है, इसके परिणाम में नुकसान होता है, इसीलिये personal करने के बात है। अब यहाँ इरादा तो हमें अपना दोष मिटाने का है न, दूसरा कोई इरादा तो नहीं है, अपना। हमें अपना दोष मिटाना है। अपना दोष मिटाने के लिये हमारा जिस प्रकार का दोष हो, इससे विरुद्ध दिशा में जाना होगा। जैसे कि ये परलक्ष का दोष है तो स्वलक्ष में आना होगा। असरलता होती हो तो सरलता में आना होगा। मान चढ़ता हो तो नम्रता में

आना होगा। इस तरह जो-जो दोष हो इसके प्रतिपक्षरूप भाव में जाना होगा। अतः यहाँ परलक्ष है इसीलिये स्वलक्ष में आना होगा। तीव्रता से स्वलक्ष में आना होगा।

मुमुक्षु:- ये तो बराबर है, सामने वाले के लिये। आपने जो चर्चा बताये अब इसमें दूसरे बाजू से यदि सामने वाला मेरा दोष बताये तो मुझे उस समय क्या करना चाहिये? मुझे जाहिर में कहे ये कहना चाहिये या personal के लिये कहना चाहिये?

पूज्य भाईश्री:- सामनेवाले व्यक्ति को तो ऐसा ही कहना चाहिये कि आपको जाहिर में सबके बीच कहने की छूट है, मुझे ज़ोर देकर कहना और अगर ऐसा हुआ तो तेरे जैसा कोई उपकारी नहीं, ऐसे लेना।

मुमुक्षु:- सच्ची मुमुक्षुता यही है?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, कहने वाले को उपकारी मानना। सही मुमुक्षुता तो ये है। एकदम उपकारी मानना चाहिये। सही बात तो ये है, कि जैसे पति-पत्नी का अंगत संबंध होता है तो अगर आप सामनेवाले को दोष नहीं कहते हो तो वास्तव में आप उसके दुश्मन हो। कौन हो? दुश्मन हो! शास्त्र में ऐसा न्याय आता है। अंगत संबंध का अर्थ क्या है? हितेच्छु होता है। आप उसका हित चाहते हो-अहित चाहोगे क्या? (अगर अहित चाहते हो) तो आपका संबंध अंगत नहीं गिना जाता। वह संबंध सही कब? कि सामनेवाला दोष बताये तब। और दोष दिख जाने पर नहीं बताये तो वास्तव में दुश्मन है और यदि बताये तो मित्र है। ऐसा है, न्याय ऐसा है। अतः आपस में एक दूसरे के साथ यह समझौता होना चाहिये कि आप अवश्य मुझे कहना ही। आप मुझे नहीं कहेंगे तो वह आपके लिये ठीक नहीं। ऐसा आगे से कहकर रखना चाहिये और बिल्कुल बुरा नहीं लगाना चाहिये। खास करके दोनों के बीच झगड़ा चलता हो, ये सच्चा point आया है, उस वक्त सामनेवाला सच्चा-झूठा सब आरोप करेगा, क्योंकि वह गुस्से में है। इसीलिये वह सही आरोप भी करेगा और गलत भी करेगा। वास्तव में तब हमारी परीक्षा है। तब हमें ऐसा लेना है कि अभी तो वह जो कहे वह सुन लेना है और उस पर विचार करना है। अगर झूठा आरोप हो तो भी कोई बात नहीं। इसका नुकसान उसको है। लेकिन अगर सही (आरोप) हो तो मुझे इसे सुधारना है। इतनी धीरज रखना ये बहुत बड़ी बात है। अगर ऐसी धीरज रख सके तो समझो तिर गया। प्रयास करना तो मालूम होगा कि बात मुश्किल है-इतनी सरल नहीं है। यह बात थोड़ी मुश्किल है। क्योंकि उस वक्त उदय सामने आया है और जीव (प्रायः) उदय में ही नुकसान करता है। उदय में ही अटकता है और वहीं पर पछाड़ खाता है। अगर उस वक्त जीत गया तो हमेशा के लिये जीत गया। और अगर गिर गया (हार गया) तो वापिस खड़ा होगा, वापिस खड़ा होने का प्रयत्न करेगा, और अगर वापिस गिरा तो फिर से खड़ा होगा। ये सब चलता रहेगा। इसीलिये जब कोई दोष कहे तो गाँठ मारना चाहिये और उसमें भी कुटुम्ब का सदस्य जब कोई दोष कहे तो उसे उपकारी ही मानना, ऐसी गाँठ ही मार देनी चाहिये। ये तो बराबर निश्चय कर ही लेना चाहिये, वह तो उपकारी ही है। इसमें दूसरा विकल्प कर्तव्य नहीं है या कुछ बुरा लगाने जैसा नहीं है। यह निश्चय रखना चाहिये।

मुमुक्षु:- भाईश्री, दो लोग आमने-सामने हो, दोनो का अच्छा relation हों, और उसमें एक person तो सामने से कहता है, और दूसरा नहीं कहता है, कि मेरे दोष बताना तो उसे सामने से जाकर बताना चाहिये कि नहीं?

पूज्य भाईश्री:- कोई जरूरी नहीं है, क्या जरूरत है? अपने को तो अपना मतलब है, इसका मतलब नहीं कि.....

मुमुक्षु:- नहीं, जैसे कि बहुत close relationship है।

पूज्य भाईश्री:- Close का मतलब क्या?

मुमुक्षु:- उसने सामने से माँगनी नहीं किया....

पूज्य भाईश्री:- माँगनी नहीं किया, तो पूछ लेना चाहिये, कि जब अपना इतना close relation हों, तो ये possible है? कि वही possible है, कि close relation है तो हाँ ही भरेगा, यदि नहीं भरता हो तो वो close relation नहीं है, वो तो अंतर रखना चाहता है, सामने वाला

(यहाँ हमारे चलते विषयमें) सत्संग में रहकर जो योग्यता आयी हो वह योग्यता लौकिकभाव के कारण नष्ट हो जाती है। और इसे नष्ट होने में देर नहीं लगती। बहुत अल्पकाल में नष्ट हो जाती है। ऐसा यह बड़ा दोष है।

‘...और स्त्री, पुत्र, आरंभ तथा परिग्रह के प्रसंग में से यदि निजबुद्धि छोड़ने का प्रयास न किया जाये तो सत्संग के सफल होने का संभव कैसे हो?’ ऐसा कहते हैं। (सत्संग फलवान) होगा ही नहीं। स्त्री, पुत्र, आरंभ, परिग्रह में यानि कि अपने संयोगों में अगर अपनत्व करना है और उस अभिप्राय में से छूटना नहीं है (तो सत्संग कैसे फलवान होगा)? अपनत्व के अभिप्राय की बात है। अपनत्व का भाव होना एक बात है और अभिप्रायपूर्वक होना वह दूसरी बात है। यहाँ मुख्यतः अभिप्राय का विषय लिया है। क्योंकि मुमुक्षु की भूमिका का विषय चल रहा है। ‘...यदि निजबुद्धि छोड़ने का प्रयास न किया जाये तो सत्संग के सफल होने का संभव कैसे हो?’ होगा ही नहीं।

मुमुक्षु:- भाईश्री, अपनत्व का भाव छोड़ना और अपनत्व का अभिप्राय छोड़ना, इन दोनों में क्या अंतर है?

पूज्य भाईश्री:- इसमें क्या है कि अभिप्राय विरुद्ध भी भाव होते हैं और अभिप्राय सहित भी भाव होते हैं। इस तरह दो प्रकार से भाव होते हैं। अभिप्राय विरुद्ध होने पर तुरंत ही अंदर में ठेस पहुँचती है, मालूम होते ही बहुत खेद होता है कि अभी भी इस जीव को क्यों ऐसा हो रहा है?

510 पत्रांक के दूसरे पारोग्राफ में आखिर में लिया है न कि 'अनुत्पन्न ऐसे इस जीव को पुत्ररूप से मानना...' अर्थात् अपने पुत्र को पुत्ररूप मानना। '...अथवा ऐसा मनवाने की इच्छा रहना,...' यानि अभिप्राय रहना। '...यह सब जीव की मूढ़ता है, और यह मूढ़ता किसी भी प्रकार से सत्संग की इच्छावाले जीव को करना योग्य नहीं है।' आप सत्संग को आत्मकल्याण के हेतु से चाहते हो और साथ में ये मूढ़ता भी रखनी हो, तो यह बात नहीं बनेगी। दूसरी भाषा में कहें तो सत्संग एक ऐसा वर्ग है, सत्संग में बैठना यानि एक वर्ग में बैठना (ऐसा अर्थ है)। हमलोग नहीं कहते हैं? कि हमको मेट्रिक में बैठना है, कॉलेज में बैठना है। (वर्ग यानि) क्लास। यह एक ऐसा वर्ग है कि अगर आपको इस वर्ग में बैठना हो तो आपको अपनत्व मिटाकर बैठना चाहिये वरना आपको प्रवेश दिया नहीं जायेगा। no permission-ये हमारी फीस है। हम कहते हैं न कि आपको इस वर्ग में बैठना हो तो आपको इतनी फीस देनी पड़ेगी और यहाँ तक की पढ़ाई होनी चाहिये। आपको ग्यारहवीं कक्षा में बैठना हो तो दसवीं कक्षा पास की होनी चाहिये और ग्यारहवीं कक्षा की फीस भरनी होगी। दो शर्त रखने के बाद आपको ग्यारहवीं कक्षा में बैठने देते हैं न? वरना बैठने देंगे क्या? नहीं बैठने देंगे। वैसे यहाँ आपको अगर सत्संग में बैठना है तो अपनत्व छोड़ने की तैयारी है क्या? कुटुम्ब-परिवार और आरंभ-परिग्रह दो ही तो बात है। इसमें लंबी बात कहाँ है? वैसे तो सत्संग में बैठने की कोई दूसरी फीस लेते नहीं। यहाँ कोई भी आदमी कभी भी आकर बैठ जाये तो कोई उसे ना कहता है क्या? कि आपको फीस देनी होगी। बाहर से टिकट लेकर आओ (ऐसा कोई नहीं कहता)। एकदम मुफ्त में बैठने मिलता है। तो यहाँ कहते हैं कि इसके लिये ये फीस है, कि आपको (आपकी मानी हुयी) पूरी दुनिया में से (अपनत्व) छोड़ना होगा-ये इसकी फीस है। एक तरफ से कोई फीस नहीं है और दूसरी ओर से पूरी-पूरी फीस है। क्योंकि यहाँ बैठने के बाद हररोज hammering होगा, हथौड़े पड़ेंगे कि आज कहाँ-कहाँ अपनत्व करके आये? लड़के की तबियत बिगड़ी उसमें? पत्नी की तबियत बिगड़ी उसमें? हिसाब दीजिये! कहाँ आपको अपनत्व हुआ? कहाँ जीव चिंतात्र हो गया? क्यों चिंतात्र हो गया? पड़ोसी के वहाँ कोई बीमार पड़े तब क्यों कुछ नहीं होता? इस तरह वैसे देखे तो फीस बड़ी भी है। वहाँ (जीवने) सर्वस्व माना है। क्या किया है? इस जीव ने इन सभी उदय को सर्वस्व मान रखा है। यहाँ सर्वस्व छोड़ने की बारी आती है और इसका लाभ भी बहुत बड़ा है। इसका लाभ भी बहुत बड़ा है, अतः हमें ऐसे लेना है कि ये फीस हमें चुकानी है, ये फीस देकर बैठना है। इसका अर्थ यह हुआ कि मुफ्त में घुस नहीं जाना है। जैसे छोटे बच्चे होते हैं वे नाटक-सिनेमा में मुफ्त में घुस जाते हैं न? सर्कस में तो तंबू होता है इसीलिये परदा ऊँचा करके घुस जाता है न, बचपन में ये सब हमने भी किया है।

राणपुर में हमारे सर्कस आता था। उस जमाने में china का सर्कस आता था। chinese लोग बहुत होशियार होते हैं। भारत के सर्कस के खिलाड़ी ऐसे नहीं होते। उन लोगों के शरीर भी ऐसे होते हैं कि रबर की माफिक मुड़ते हैं। उस जमाने में हमें घर से तो खर्च करने के लिये पैसे मिलते नहीं थे फिर कहाँ से कैसे घुस जाना, ये ढूँढ़ते थे और मौका मिलने पर घुस भी जाते थे और कभी आधा घंटा-घंटा भर मेहनत करने के बाद लगता कि अभी डंडा खाना पड़ेगा तो वापिस घर आ जाते थे। मार पड़ेगी इसके डर से नहीं घुसते थे लेकिन अगर मौका मिले तो घुस जाने का। कभी-कभी ऐसा भी किया होगा। स्पष्टरूप से याद नहीं है। परंतु परिणाम तो ऐसे ही थे। ऐसे परिणाम होते थे। वैसे यहाँ सत्संग में घुस नहीं जाना है।

मुफ्त में नहीं घुसना है, फीस चुकानी है। ऐसा हमें अपने लिये सोचना चाहिये कि ये फीस मुझे चुकानी है।

सत्संग की चाहत भी रखना और अपनत्व भी करना, ये उचित नहीं है। ये उचित नहीं होता है। सत्संग निष्फल जायेगा और जो बहुत बड़ा लाभ होनेवाला था उस लाभ से वंचित रहना हो जायेगा। इस जीव ने अभी तक ऐसा ही किया है। सत्संग तो कई बार किया है परंतु अपनत्व नहीं छोड़ा। अपनत्व छोड़ना चाहिये, इस बात पर ध्यान होना चाहिये बजाय इसके प्रतिबंध दृढ़ किया होता है। और फिर बाद में कुछ भान नहीं रहता। क्या परिस्थिति हो जाती है।

यहाँ तो प्रश्न उठा है कि ‘...स्त्री, पुत्र, आरंभ-परिग्रह के प्रसंग में से यदि निजबुद्धि छोड़ने का प्रयास न किया जाये...’ यहाँ प्रसंग यानि उदया उसमें से ‘...यदि निजबुद्धि छोड़ने का प्रयास न किया जाये तो सत्संग के सफल होने का संभव कैसे हो?’ किसी भी तरह से सत्संग फलवान होगा ही नहीं, ये समझ लेना। इन दोनों बातों को एक दूसरे से मेल नहीं खायेगा। प्रतिबंध अपनत्व का छोड़ना नहीं है और सत्संग से लाभ चाहना है, ये दो बात बनने वाली नहीं है। अतः वास्तव में तो हमारा जिस प्रकार का सत्संग चलता है उसमें हर रोज इसकी चर्चा करनी चाहिये। क्योंकि घरवालों के साथ तो हररोज का उदय है। स्वयं को बराबर जागृति रहनी चाहिये कि मैंने कहाँ-कहाँ अपनत्व किया? किस-किस प्रकार से मेरे परिणाम बह गये? और उसकी प्रतीति तुरंत आ जायेगी कि इसी तरह के परिणाम पड़ोसी के लिये होते हैं क्या? पड़ोसी के बीच तो एक ही दीवार होती है, ज्यादा से ज्यादा एक ही कम्पाउन्ड की दीवार या मकान की दीवार होती है। पड़ोसी इससे दूर नहीं होता। उसी को पड़ोसी कहा जाता है न! फिर भी इसके लिये ऐसा होता है क्या? या इसके (हमारे कुटुंब के) लिये ही ऐसा होता है? बस तुरंत पकड़ में आयेगा। तेरा अपनत्व और तेरा प्रतिबंध है इसीलिये ऐसा हो रहा है वरना ऐसा नहीं होता।

मुमुक्षु:- घरवालों को पड़ोसी कर देना क्या?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, क्योंकि वे तो वास्तव में पड़ोस में ही रहते हैं। समीप रहते हैं इसका मतलब पड़ोस में ही रहे हुये हैं, और कुछ नहीं है। पड़ोसी को मदद करना एक बात है और ‘अपनत्व’ करना उसमें तो पड़ोसीपन रहता ही नहीं। वहाँ तो पड़ोसीपन रहता ही नहीं। वहाँ तो स्पष्टरूप से प्रतिबंध ही है।

‘...जिस प्रसंगमें महाज्ञानी पुरुष संभल-सँभलकर चलते हैं,...’ क्या कहते हैं? महाज्ञानी हो, कुटुंब-परिवार का हो, अभी त्यागी नहीं हुये हो लेकिन महान ज्ञानी हो, फिर भी वे संभल सँभलकर चलते हैं। (कृपालुदेव) स्वयं अनुभव की ही बात लिखते हैं। अपने अनुभव की ही बात लिखते हैं कि हम बहुत संभलकर चलते हैं।

‘उसमें इस जीव को तो अत्यंत अत्यंत सावधानता से,...’ देखिये दरकार की बात आयी। कल दरकार की चर्चा हुयी थी। (मुमुक्षु को स्वयं को) बहुत दरकार होनी चाहिये। ‘उसमें इस जीव को तो...’ यानि मुमुक्षु जीव को तो ‘अत्यंत अत्यंत सावधानता से, संकोच पूर्वक चलना चाहिये, यह बात भूलने

जैसी ही नहीं है, ऐसा निश्चय करके...' अर्थात् ऐसे निर्धारपूर्वक, ऐसे निश्चयपूर्वक, निश्चय के बलपूर्वक '...प्रसंग-प्रसंग में, कार्य-कार्य में, और परिणाम-परिणाम में...' अर्थात् हर एक उदय में '...उसका ध्यान रखकर उससे छूटा जाये,...' अर्थात् अपनत्व से छूटा जाये, '...वैसे ही करते रहना, यह हमने श्री वर्धमानस्वामी की छद्मस्थ मुनिचर्या के दृष्टांत से कहा था।' जब सत्संग चला है तब कृपालुदेव ने मौखिकरूप से वर्धमानस्वामी की मुनिचर्या के दृष्टांत से यह बात कही थी। इस तरह स्वयं ने प्रत्यक्ष सत्संग का reference पत्र में लिखा है कि हमने ऐसा कहा था।

देखिये, कैसी बात की है! 'जिस प्रसंग में महाज्ञानीपुरुष संभल संभलकर चलते हैं, उसमें इस जीव को तो अत्यंत अत्यंत सावधानता से, संकोचपूर्वक चलना चाहिये,...' (संकोचपूर्वक चलना चाहिये) यानि क्या? बचकर चलना। जैसे कोई साँकरी पगडंडी-रास्ता हो और दोनों तरफ बेर के छोटे पौधे हो। छोटे बेर के पेड़ भी होते हैं और छोटे पौधे भी होते हैं। पौधे तीन-चार फुट के ही होते हैं। बेर के पौधे के पास में चले तो काँटे सीधे कपड़े में फँस जाते हैं। साँकरा रास्ता हो इसीलिये थोड़ा संकोचपूर्वक चलना पड़े, संक्षेपकर चलना पड़े। वैसे कुटुम्बरूपी घोंसला ऐसा है कि परिणाम सहज ही फँस जाते हैं। परिणाम सहज ही फँस जाते हैं। बहुत संभलकर और संकोचपूर्वक चलना यानि बचकर चलना, अंदर में अपने आपको संभालना, यह बात कतई भूलने जैसी नहीं है-ऐसा निश्चय करना। ऐसा निश्चय करना अथवा तो ऐसा लक्ष हो जाये तो भूलने-नहीं भूलने का सवाल ही नहीं रहता। यदि इस निश्चय की जो परिणति बन गयी और यह विषय लक्ष में रह गया तो फिर स्मरण-विस्मरण का सवाल नहीं रहता। फिर सहजरूप से जागृति रहती है। क्योंकि यह बात लक्ष में ही है। मुझे कहीं भी अपनत्व होने का प्रश्न ही नहीं हो सकता। अपनत्व होवे ही कैसे?

ऊपर की भूमिका में बहुत अच्छा प्रयोग होता है। वह प्रयोग इस प्रकार से होता है कि जीव सीधा अपने अस्तित्व को संभाल लेता है। (वह ऐसे देखता है कि) 'मेरी हयाती ही जब वहाँ नहीं है फिर अपनत्व होने का प्रश्न ही कहाँ है? मेरे द्रव्य, गुण, पर्याय में मेरा अस्तित्व समाप्त होता है। मेरा अस्तित्व वहाँ पूरा हो जाता है, समाप्त हो जाता है। फिर मैं वहाँ हूँ ही कहाँ? मेरे से सब शून्य हैं।'

वैसे अभी जो संसार का स्वरूप है वह तो केवल स्वार्थ का है। उसमें कोई दम नहीं। पूँछ दबते ही फूतकार मारेगा (सर्पकी माफिक)। परंतु एक जमाना ऐसा भी था कि जिसमें बहुत स्नेह से-कुटुंब स्नेह से पूरा संसार चलता हो, वहाँ भी ऐसे जागृत आत्माएँ होते हैं जो नहीं फँसते। अतिशय स्नेह व प्रेम होने पर भी अंतर जागृतिवान नहीं फँसते हैं। (उनको ऐसा ही लगता है कि) ठीक है, ये सब खेल और ये सब नाटक है। जिसमें मुझे भूलावे में पड़ने जैसा नहीं है। ऐसे प्रयत्न करने वाले-पुरुषार्थ करने वाले जीव भी होते हैं। अभी तो काल ही कोई विचित्र है।

मुमुक्षु:- गुरुदेवश्री को उनके बड़े भाई ने कहा था कि तू यहाँ पढ़ता रहे, तुझे कोई काम नहीं करना है। लेकिन तू दीक्षा मत ले। इस प्रसंग को अच्छे काल में गिन सकते हैं?

पूज्य भाईश्री:- नहीं, दीक्षा के पहले ऐसा नहीं हुआ था परंतु दीक्षा लेने के बाद।

मुमुक्षु:-

पूज्य भाईश्री:- दीक्षा लेने के भाव उनको पहले से ही थे।

मुमुक्षु:-

पूज्य भाईश्री:- ये नहीं सुना, लेकिन दीक्षा लेने के बाद जब उनके विचार में बदलाव आया और स्वयं की दीक्षा छोड़ देने की बड़े भाई को बात कही (तब ये प्रसंग बना था)। क्योंकि जब गुरु को बात कही थी तब गुरु ने कहा था, आहार-पानी मिलना बंद हो जायेगा। स्थानकवासी संप्रदाय में जैसे ही यह बात करोगे कि (भगवानकी) मूर्ति नहीं रखना, यह बहुत बड़ी भूल है, तो मार-पीट हो जायेगी और मारकर निकाल देंगे। तुझे कोई रोटी नहीं देगा और कल से आहार-पानी मिलना बंद हो जायेगा। तब गुरुदेवश्री को विचार आया कि हमने कहाँ रोटी के लिये दीक्षा ली है! रोटी तो हमारे घर पर भी थी। हमने रोटीके लिये थोड़ी दीक्षा ली है, गरीब लोग दीक्षा ले लेते हैं लेकिन मैने तो ऐसा नहीं किया है। इसीलिये उन्होंने भाई को पूछा कि 'मैं दीक्षा छोड़ देना चाहता हूँ, इसमें आपका क्या भाव है?' (क्योंकि) दीक्षा छोड़ दे फिर तो आहार के लिये कहीं जाने का सवाल पैदा नहीं होता और खाना-पीना तो घर पर ही होगा। फिर दूसरे के घर जाने का तो कोई प्रश्न नहीं रहता। बड़े भाई को गुरुदेव पर बहुत विश्वास था कि बहुत समझदार है ये मेरा भाई, जो भी कदम उठायेगा वह बहुत सोच-समझकर उठायेगा और वह जो कुछ भी करेगा वह आत्मकल्याण के हेतु से ही करेगा। क्योंकि वह आत्मकल्याण करने के लिये निकला हुआ जीव है। दीक्षा ली है तो भी आत्मकल्याण के हेतु से और अगर दीक्षा छोड़ेगा तो भी आत्मकल्याण के हेतु से ही छोड़ेगा। इतना उन्हें विश्वास था, इसीलिये उन्होंने गुरुदेवश्री को कहा कि कोई बात नहीं। तुझे आत्महित करना है न? तू खा-पीकर (शास्त्र लेकर) छत पर बैठ जाना, (कोई बात नहीं)। घर बैठकर आत्मकल्याण कर ले, अपने यहाँ कोई रोटी की कमी नहीं है। आ जा घर वापिस।

जबकि गुरुदेवश्री के पुण्य तो बहुत उच्च कोटि के थे। कुछ समय के लिये ऐसा हो गया कि (दीक्षा छोड़ने के पश्चात्) सिर्फ चार लोग ही रहे थे। जैसा ही उन्होंने धमाका किया और मुँहपत्ति छोड़ी तब एक दफा तो पूरा समाज विरुद्ध हो गया। (सिर्फ चार ही जन रहे)। चार लोगों में दो वढ़वाण के थे और दो राणपुर के थे। चारों के चारों झालावाड़ी ही थे। चार जन ही साथ में रहे थे कि जैसे जहाँ आप वहाँ हम, हम आपके साथ ही हैं। फिर बाद में तो गुरुदेवश्री का पुण्योदय बहुत होने से सब साथ होने लगे। लेकिन एक बार तो पूरा समाज विरुद्ध ही हो गया था और विरुद्ध हो गया था तो कितना विरुद्ध हो गया था पता है? खून-खराबा हो जाये इतना (विरुद्ध हो गया था)। खुलेआम धमकी देते थे कि खून कर देंगे। इसीलिये (वे चार जन) रात-दिन साथ में रहते थे। चौबीस घंटे पहरा देते थे कि आपको कुछ होने नहीं देंगे। इतनी उन लोगों की तैयारी थी। बहुत अच्छा समर्पण था, ऐसी-ऐसी बातें हैं।

अब गुरुदेवश्री की निस्पृहता देखो! इनके बड़े भाई के धर्मपत्नी गंगाबहन भी सोनगढ़ आकर बस गये थे। गुरुदेवश्री तो प्रभावशाली पुरुष थे। उनके उपदेश में तो उन्हें भी अश्रद्धा का कोई सवाल नहीं था। इसीलिये वे भी सोनगढ़ आकर बस गये। वे इतनी विचित्र परिस्थिति में रहते थे फिर भी गुरुदेवश्री ने कभी किसी को इशारा तक नहीं किया कि आप उनका ध्यान रखें। कुदरती हमारे जिम्मे डेढ़ साल के लिये (संस्थाका) संचालन हाथ में आया, तब पहला ध्यान हमारा इस बात पर गया। गुरुदेवश्री के भाभी यहाँ रहते हैं, हम इनकी खबर तो लें। तब हम माजी के पास गये थे, वे वृद्धावस्था में थे। (वहाँ जाकर देखा तो) माजी के घर का कोई ठिकाना नहीं था। घर में कोई व्यवस्था नहीं थी। सब पूछ-पूछकर ठीक किया। हम लोग बार-बार उनकी संभाल लेने जाते थे।

(गुरुदेवश्री के देहांत के बाद) एकबार जब उन्हें fracture हुआ था, तब भावनगर अस्पताल में भरती किये थे। यहाँ भावनगर में सबको सूचना दे दी थी कि ये गुरुदेवश्री के भाभी हैं। गुरुदेवश्री ने कभी किसी को कुछ भी नहीं कहा। बहुत बुरी हालत में सोनगढ़ में रहे हैं। ये तो समाज की और भक्तों की बहुत बड़ी क्षति कही जायेगी। ऐसा ध्यान तो जाना ही चाहिये। फिर यहाँ भावनगर के मंडल के सदस्यों ने बहुत अच्छी सेवा की थी, बहुत अच्छी सेवा की थी। यहाँ बहुत अच्छी संभाल ली थी।

यहाँ हमारा मुद्दा जो है वह प्रतिबंध का है। जिस भाई ने उन्हें इतना support किया था (फिर भी) गुरुदेवश्री को भाभी का कोई प्रतिबंध नहीं था। कभी सीधा भी नहीं कहा और किसी से कहलवाया भी नहीं। किसी को मालूम ही नहीं होवे कि उनके भाभी यहाँ रहते हैं। इस तरह स्वयं रहे हैं कि उनके भाभी यहाँ रहते हैं, यह समाज में किसी को मालूम ही नहीं पड़ा। देखो! गुरुदेवश्री कैसे रहे हैं।

बाद में तो हमने पूरी संभाल ली थी। घर की मरम्मत से लेकर हम हमारे घर में जो सेवा देते हैं, इससे एक प्रतिशत ज्यादा संभाल ली है, कम नहीं ली है। लेकिन गुरुदेवश्री को प्रतिबंध नहीं था। गुरुदेवश्री का यह एक जीवंत दृष्टांत हमें देखने को मिलता है। ऐसी चीज मौजूद थी। प्रतिबंध का अभाव क्या चीज है (यह देखना हो तो) आप देख लीजिये गुरुदेवश्री को! ऐसा प्रकार था। हमें ऐसा होना पड़ेगा, और उनके जैसे बनने में लाभ है।

प्रतिबंध में तो बहुत बड़ा नुकसान है। सीधा अधोगति का ही कारण है, दुसरा कुछ नहीं। भले ही हमको कितना भी मीठा लगता हो, लेकिन अधोगति के सिवाय उसका दूसरा कुछ फल नहीं है। इसकी भयंकरता लक्ष में से छूटनी नहीं चाहिये; तभी प्रतिबंध छूटेगा वरना कभी भी नहीं छूटेगा।

मुमुक्षु:- स्वयं समझता भी है कि अकेला आया और अकेला जानेवाला है, फिर भी प्रतिबंध नहीं छूटता है।

पूज्य भाईश्री:- (इसका मतलब) कि परिणामन बहुत गाढ़ हो गया है। यह feeling बहुत गाढ़ हो गयी है। इसे तोड़ने पर ही छुटकारा है। यहाँ तक रखते हैं।

प्रवचन-7, दि. 09-08-1996

पत्रांक-537 (1), भावनगर

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्र-537। अंबालाल भाई आदि मुमुक्षुओं के ऊपर पत्र लिखा है। मुमुक्षु की भूमिका में सामान्य रूप से सभी को लागू पड़े ऐसा पत्र का विषय है।

‘श्री स्तंभतीर्थवासी मुमुक्षुजनों के प्रति, श्री मोहमयी भूमि से....’ (फिर) थोड़ी खाली जगह छोड़ी है। ‘...का आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो। विशेष विनती कि मुमुक्षु अंबालाल का लिखा हुआ एक पत्र आज प्राप्त हुआ है।’

‘कृष्णदास के चित्त की व्यग्रता देखकर आप सबके मन में खेद रहता है, वैसा होना स्वाभाविक है।’ कृष्णदासभाई नाम के अच्छी पात्रतावाले मुमुक्षु थे। कोई कारणवशात्, किसी प्रसंग के निमित्त से, उदय के कारण (उनका) चित्त व्यग्र रहता होगा। व्यग्र यानि क्या? tension वाला। व्यग्र अर्थात् तनाव। इसीलिये दूसरों को भी ऐसा लगा कि ये अपने मुमुक्षु हैं, इतने योग्य जीव हैं लेकिन अभी मानसिक परिस्थिति तकलीफ वाली है। अतः दूसरों को भी खेद हो, यह स्वाभाविक है। ‘यदि हो सके तो ‘योगवासिष्ठ’ ग्रंथ तीसरे प्रकरण से उन्हें पढ़ावे..’ तीसरा प्रकरण है, वह वैराग्य प्रकरण है। क्या? रामचंद्रजी का जो वैराग्य है, उसका तीसरा प्रकरण है। यह पढ़ने के लिये उन्हें सलाह दी है। क्योंकि संसार के अनिच्छनीय जो प्रसंग हैं, उन प्रसंगों में वैराग्य एक ही उपकारी है। सांसारिक प्रसंगों में और उदयों में जितनी अपेक्षावृत्ति होती है, उतनी जीव को उपाधि विशेष होती है। उपाधि उतनी बढ़ती है। यदि जीव को विरक्ति आये, वैराग्य आये तो अपने आप tension बंद हो जाता है। यह एक किसी भी प्रकार के तनाव को बंद करने का रामबाण उपाय है।

किसी भी मनुष्य को तनाव होता है-मानसिक तनाव होता है, उसका कारण क्या? सर्व सामान्य बात, सबको लागू पड़े ऐसी है कि उसकी जो अपेक्षा है-वह जो चाहता है वैसा नहीं बनता है, इससे प्रतिकूल बनाव (उदय) खड़ा हो गया है, तो उनको tension आता है। किसी भी जीव को tension आता है। उसी वक्त वह वैराग्य में आ जाये कि मैं एक आत्मा हूँ। इस मनुष्य भव में मेरा आत्मकल्याण करना वही मेरा प्रथम कर्तव्य है। सबसे प्रथम कर्तव्य क्या है? कि अनंतकाल से दुर्लभ ऐसा जो मनुष्यभवं मुझे प्राप्त हुआ है, तो सबसे पहले मुझे मेरा आत्मकल्याण करने का प्रयास करना चाहिये। और संसार में जो संयोगों की अपेक्षावृत्ति (होती) है, उससे तो नया कर्मबंधन होता है और जन्म-मरण प्राप्त होता है। तो उसमें मुझे विरक्तता-नीरसपना आ जाये, विरक्तता आ जाये, वही मेरे लिये कल्याणकारी है। (इस प्रकार वैराग्य में आये) तो उसका तनाव खत्म हो जाता है। किसी भी प्रकार का तनाव हो, खत्म हो जाता है। क्योंकि मेरी पहुँच, संयोग का कार्य करने में मेरे आत्मा की पहुँच तो नहीं है। मैं कैसा भी परिणाम कर सकता हूँ, परिणाम मेरा हो सकता है, परंतु बाहर में कार्य संपन्न हो या नहीं संपन्न हो, उसमें मेरा कोई अधिकार तो नहीं है। इतनी सीधी सादी समझ करके वैराग्य में नीरसता में आये तो tension नियम से खत्म हो जायेगा। किसी भी प्रकार का tension हो नियम से मिट जायेगा।

संसार में तनाव का कोई इलाज नहीं है। सांसारिक इलाजों में तनाव का कोई इलाज नहीं है। जबकि अध्यात्म में, अध्यात्म क्षेत्र में, धर्म के क्षेत्र में तनाव का रामबाण इलाज है। कैसा इलाज है? ये रामबाण इलाज है, तो (कृपालुदेव ने) वह दवाई बतायी कि आप 'योगवासिष्ठ' तीसरा प्रकरण पढ़िये। 'योगवासिष्ठ' ग्रन्थ जैसे तो हिन्दु धर्म का (ग्रंथ) है। फिर भी वैराग्य की बहुत सुंदर बातें, जो जैनदर्शन में मूल तीर्थंकरदेव ने निरूपण की हैं, ऐसी बातें वहाँ भी है, उन लोगों ने जैन ग्रंथों में से ले ली। भगवान की वाणी में से यह बात ले ली है। इसीलिये अभी भले वह अन्य-मत के ग्रंथ में दिखे लेकिन मूल बात तो भगवान तीर्थंकरदेव की ये सब बातें हैं। ऐसी अच्छी सुंदर बातें दिव्यध्वनि के अलावा और कहीं पायी जाती नहीं हैं। इसीलिये वे ज्ञानी थे, (कृपालुदेव को) मालूम था कि अन्यमती ने भी भगवान की कैसी-कैसी अच्छी बात उठा ली है! तो वे point-out (इशारा) कर देते थे कि भाई आप तो वहाँ से वह पढ़ो, आप यह मत समझो कि अन्य-मत की वह (बात) है। वह भगवान की है। मूल में वह भगवान की (बात) है। फिर किसी ने अपना लिया तो ठीक है। ('योगवासिष्ठ' ग्रंथ) तीसरे प्रकरण से उनको पढ़ाइयेगा और श्रवण कराइयेगा। देखो, दो बात किया है। पढ़ने को भी बोलना और कोई मुमुक्षु साथ में बैठकर उनको श्रवण भी कराइयेगा। तो श्रवण कराने में क्या होगा? कि चर्चा होगी कि देखो, रामचंद्रजी का कैसा वैराग्य है।

तो प्रसंग ऐसा था कि रामचंद्रजी युवावस्था में प्रवेश कर रहे थे। सोलह साल की उम्र थी उनकी। पंद्रह साल के बाद सोलह साल की उम्र में उनका वैराग्य बढ़ गया। ज्ञानीपुरुष थे, उसी भव में मोक्ष में गये हैं। मांगीतुंगी से गये हैं ने? मांगीतुंगी से गये हैं। अभी सिद्धालय में विराजमान है उनकी आत्मा। तो (रामचंद्रजी) बचपन से ही बहुत ज्ञानी थे, वैरागी थे। तब जब उन्होंने युवानी में प्रवेश किया, तो युवानी (जवानी) में रंग-राग की वृत्ति बढ़ जाती है; जबकि वे ज्ञानी थे तो उनका वैराग्य बढ़ गया। यह एक अच्छा लक्षण है। कि छोटी उम्र में रंग-राग नहीं बढ़कर के वैराग्य (आये) और धर्म के क्षेत्र में आगे बढ़ने का जो भाव आता है, वह शुभ लक्षण है। होनहार अच्छी है, उसको ही ऐसा होता है। जिसकी होनहार अच्छी है, उसको बचपन से ही, छोटी उम्र से ही अच्छे रास्ते पर जाने का विचार आता है। वरना तो लोग चले जाते हैं, बह जाते हैं प्रवाह में। जो चलता प्रवाह है उसमें बहते हैं। वो (रामचंद्रजी) बहुत वैराग्य में आये थे। घर में उनके लिये उनकी सगाई-शादी की चर्चा चल रही थी एक ओर, दूसरी ओर उनके राज्याभिषेक की चर्चा चल रही थी कि ये युवराज हैं, पाटवी कुँवर हैं, अभी बड़े हो गये हैं तो उनको राज की गद्दी पर बिठा दें और कोई अच्छी राजकुमारी के साथ उनकी सगाई-संबंध, शादी-विवाह भी कर लें। उनको इस तरफ वैराग्य बढ़ रहा था, किसी से मिलते नहीं थे, बात नहीं करते थे, एकांत में बैठे रहते थे, चिंतन करते रहते थे। तो उस वक्त सब चिंतित हो गये कि ऐसा क्यों हो गया?

फिर, दशरथ राजा विचिक्षण थे। उनके (रामचंद्रजी के) गुरु जो वसिष्ठ हैं, उनको बुला लिया और बोले कि 'आप अपने शिष्य को थोड़ा ठीक संभालो। आजकल बहुत उदास रहते हैं और हम शादी करने की बात करते हैं तो मना कर देते हैं। राज्याभिषेक की बात करते हैं तो मना कर देते हैं, तो क्या बात है? आप उनके मन की बात थोड़ी समझकर के उनको रास्ते पर ले आओ।'

तो वसिष्ठ ऋषि उनके गुरु होने के बावजूद भी उनको संसार में डालने की जो भी बातें करते हैं, उनके सामने वे वैराग्य की बात करते हैं कि महाराज, आपने तो हमको ऐसी विद्या सिखायी है, अभी उल्टी बातें क्यों सिखाते हो? आप तो अभी उल्टी बातें कर रहे हो। आपकी उल्टी बातों में मैं कैसे आ जाऊँगा? पहले मैंने हाँ भरी है, सोच-समझकर भरी है। आप कोई कारण विशेष को लेकर या हमारे पिताजी के कहने से, कुछ और बातें हमको समझा रहे हैं लेकिन वह बात हमको तो कैसे गले उतरेगी? आप ही बताइये?’ तो जितनी-जितनी बातें अपने गुरु करते हैं, उनको भी वे इतना अच्छा argument (तर्क) देते हैं। बहुत पढ़ने लायक प्रकरण है। वह प्रकरण पढ़ने के लिये, श्रवण कराने के लिये, चर्चा कराने के लिये अनुरोध किया है यहाँ पर।

‘और प्रवृत्तिक्षेत्र से जैसे अवकाश मिले तथा सत्संग मिले वैसा करियेगा।’ क्या? कि उनको सांसारिक प्रवृत्ति से थोड़े दूर करके और सत्संग मिले, धर्म चर्चा हो, ऐसे प्रसंग में उनको रखें। ‘दिवस के दिन के भाग में ऐसा अधिक प्रसंग-अवकाश लेने का बने; उतना लक्ष रखना योग्य है’ प्रसंग में यानि रात्री को भले ही वे आराम करे, चिंतवन करे, दिन में आप लोग उनके साथ रहिये। देखो, कितनी सूचना दी है, देखो। समागम की इच्छा सभी मुमुक्षु भाइयों की है ऐसा लिखा, इसके ऊपर मैं विचार करूँगा। आप लोगों को मेरे समागम की इच्छा है, ठीक है, मैं उस पर विचार करूँगा। कार्तिक महीने में पत्र लिख रहे हैं। तो फिर (कहते हैं) ‘मार्गशीर्ष महीने के अंत भाग में या पौष महीने के प्रारम्भ में बहुत करके ऐसा योग संभवित है।’ यानि महीने-दो-महीने में, मैं कुछ निवृत्ति लेकर निवृत्ति क्षेत्र में आऊँगा, तो मेरा प्रत्यक्ष समागम उपलब्ध हो सकेगा।

‘कृष्णदास को चित्त में से विक्षेप की निवृत्ति करना योग्य है।’ अब कृष्णदास को स्वयं को संबोधन करते हैं। पहले मुमुक्षुओं को संबोधन किया, अभी कृष्णदास को संबोधन करते हैं कि आपके चित्त में जो तनाव है उसको दूर करो। तनाव में रहने से नया कर्मबंधन होता है। तनाव में रहने से परिणाम बिगड़ता है और नया कर्मबंधन होता है। वह तो योग्य नहीं है। मुमुक्षु को योग्य नहीं है और दुःखदायी भी तो है। वह कोई सुखदायी तो नहीं है। उसमें तो बहुत दुःख होता है। तो कहते हैं कि योग्य तो यह है कि विक्षेप नहीं रखें।

‘क्योंकि मुमुक्षुजीव को यानि विचारवान जीव को...’ क्या लिखते हैं? मुमुक्षुजीव को यानि कुछ नहीं समझता है, बुद्धि नहीं लगाता है वह बात नहीं है। बहुत विचारवान है। जो मुमुक्षु है वह अपने हित और अहित के विषय में अधिक विचार कर सकता है। उसको यहाँ मुमुक्षु कहा है। इसीलिये विचारवान कहा है। ‘मुमुक्षुजीव को यानि विचारवान जीव को इस संसार में अज्ञान के सिवाय दूसरा कोई भी भय होता नहीं।’ क्या(कहा)? मुमुक्षुजीव को यानि विचारवान जीव को भय नहीं होना चाहिये। तनाव होता है तो साथ-साथ भय होता है। जब भी तनाव होता है तो किसी न किसी प्रसंग का भय पैदा हो जाता है। उस भय का दुःख भी उसके साथ में है। तो कहते हैं कि मुमुक्षुजीव को तो संसार की प्रतिकूलता का भय तो होना ही नहीं चाहिये। क्यों? कि प्रतिकूलता में तो अधिक पुरुषार्थ करने का मौका रहता है। भय किस

बात का होना चाहिये? एक अज्ञान का। कि अगर मेरा अज्ञान मिटेगा नहीं और मेरी मनुष्य आयु पूरी हो जायेगी तो, फिर अनंतकाल के पहले मुझे मनुष्यपना मिलने वाला नहीं है। और मुझे अन्य दुर्गति के बहुत दुःख भोगने पड़ेंगे। उसका भय उसको (मुमुक्षु को) होना चाहिये। क्योंकि वह अज्ञान के कारण से होता है इसीलिये। ऐसा (किस कारण से ऐसा होता है?) अज्ञान के कारण से।

अब देखिये, प्रतिकूलता के भय से जीव को tension आता है। किसमें से आता है? (भय में से आता है) और दुर्गति की अनंती प्रतिकूलता है उसका tension क्यों नहीं आता है? जब तुम ये कहोगे कि प्रतिकूलता आयेगी तो तनाव तो आयेगा ही आयेगा, तो हम कहते हैं कि बड़ी प्रतिकूलता आयेगी इसका क्या? आपको छोटी प्रतिकूलता का दुःख होता है और बड़ी प्रतिकूलता का दुःख नहीं (होता है)। आने वाली main (मुख्य) प्रतिकूलता का, बड़ी प्रतिकूलता का दुःख नहीं होता है, इसका मतलब हमारी समझ में तो नहीं आता। ज्ञानी ऐसे कहते हैं कि हमारी समझ में वह बात नहीं आती। अगर अज्ञानवाली परिस्थिति में मनुष्य आयु पूरी होती है, किसी का भी तो उसको फिर मनुष्यभव मिलना बहुत मुश्किल होता है। क्योंकि संसार में जीव ऐसे परिणाम करते हैं कि दुर्गति में चले जाते हैं। और बड़ी-बड़ी प्रतिकूलतायें वहाँ आती हैं। तो उस बड़ी प्रतिकूलता का तो भय नहीं रखते, और वर्तमान में जो छोटी-मोटी प्रतिकूलता आती है उसका ज्यादा भय लगता है, tension आता है। ये बात कहाँ की समझदारी की है? कैसी समझदारी की यह बात है?

इस बात को pointout (इशारा) करते हैं। क्या? कि विचारवान जीव को तो (अज्ञानका भय होता है)। जो अविचारी है उसकी बात छोड़ दो। जो अपने सुख-दुःख का दीर्घदृष्टि से विचार कर सकता है, क्या? 100-50 साल का विचार नहीं करना है हमें, मुमुक्षुजीव है वह दीर्घदृष्टि वाला है। वह अपना अनंतकाल के जीवन के लिये सोचता है और जो छोटी, टूँकी-दृष्टि वाला है short-sighted जिसको कहते हैं वह 100-50 साल तक देखता है कि मेरे 100-50 साल में मैं कैसे ठीक-आराम से जीवन जीऊँ! लेकिन वह भी प्रारब्ध आधीन है, खुद के आधीन तो है ही नहीं। फिर भी वह उसकी चिंता करेगा, आगे की चिंता नहीं करेगा। जो विचारवान जीव है वह आगे की चिंता करेगा। तो उसको तो अज्ञान के सिवाय दूसरा भय हो ही नहीं सकता, होना ही नहीं चाहिये। अज्ञान का ही भय होना चाहिये। संयोग (मिलना) तो प्रारब्ध आधीन है।

‘एक अज्ञान की निवृत्ति करने की इच्छा...’ (अर्थात्) अज्ञान के नाश की इच्छा करना। क्या कहते हैं? ‘एक अज्ञान के नाश की इच्छा करना...’ उस रूप जो इच्छा है, वैसी जो इच्छा है, ‘उसके सिवाय विचारवान जीव को दूसरी इच्छा नहीं होती...’ क्यों दूसरी इच्छा नहीं होती? कि दूसरी इच्छा तो काम में आती नहीं। वह तो प्रारब्ध आधीन है। सब हमारा पूरा जीवन है, आयुष्य पर्यंत का हमारा जो जीवन है, उसका प्रारब्ध हम बाँधकर आये हैं। उसी के अनुकूल ही सब होने वाला है। हमारी इच्छा के अनुकूल तो होने वाला नहीं है। तो वह बात तो छोड़ दो। वह तो आप कुछ भी विचार करो नहीं करो,

जो होने वाला है प्रारब्ध में, वही होगा। तो एक अज्ञान का नाश कर लेना यही इच्छा मुमुक्षु जीव को, विचारवान जीव को मुख्य रूप से होनी चाहिये।

‘और पूर्वकर्म के योग से...’ यानि प्रारब्ध के बल से। ‘ऐसा कोई उदय हो...’ प्रतिकूल उदय हो कोई। पूर्व प्रारब्ध के कारण से कोई प्रतिकूल उदय हो, ‘तो भी विचारवान के चित्त में संसार कारागृह है...’ कोई अच्छा उदय हो, अनुकूलता का हो या प्रतिकूलता का हो, मुमुक्षु को तो ऐसा ही लगेगा कि ये एक बंदीखाना है। ‘कारागृह’ यानि क्या है? बंदीखाना है। मैं पराधीन हूँ, मेरी इच्छा के अनुकूल कुछ नहीं कर सकता, मैं dependent (आश्रित) हूँ, यानि अन्य संयोग के (आधार से) परतंत्ररूप से मुझे मेरा जीवन जीना पड़ता है। देखो, यह कानून है। तो कानून से सबके हाथ बंधे हुये हैं कि नहीं हैं?

एक व्यापारी भी विचार करे कि मेरे रुपये, मेरी संपत्ति, मेरे रुपये, मेरा बहीखाता, मेरी कलम (है), मैं चाहूँ ऐसा लिख सकता हूँ क्या मेरे बहीखाते में? नहीं, जैसा कानून कहता है वैसा तुम अपना बहीखाता रखो। और उसका हिसाब-किताब government को दिखाओ। रुपया आपका, बहीखाता आपका, कलम आपकी, लेकिन स्वतंत्रता आपकी नहीं है। स्वतंत्रता आपकी है क्या? नहीं! हर क्षेत्र में जाओ। यह तो एक दृष्टांत है। आप हर क्षेत्र में जाओ, आपको परतंत्र रूप से इस संसार में जीवन जीने की अनिवार्य बात है। (आप) चाहे घर में हो, चाहे बाजार में हो, चाहे समाज में हो, चाहे कहीं भी हो परतंत्र रूप से जीवन जीना है। स्वतंत्र रूप से जीवन नहीं जी सकते। इसीलिये वह कारागृह है, क्या है? विचार करो तो वह कारागृह है। जैसे बंदीखाने में बंदी को जैसा police कहेगा वैसा करना पड़ेगा। Superintendent (अर्थात्) jailor बोलेंगा वैसा ही करना पड़ेगा, ऐसा ही रहना पड़ेगा वैसा ही (यहाँ भी) है।

किसी को देह में बिमारी है। कोई चाहता है बिमारी? नहीं चाहता है। तो वह क्या करे? (कोई) देह को दूर कर सकता है क्या? देह की बिमारी को खुद दूर कर सकता है क्या? अगर कर सकता है तो आने ही क्यों दे? बिमारी को क्यों आने देगा? Doctor खुद नहीं आने दे लेकिन doctor स्वयं बीमार हो जाता है, तो वह स्वयं परतंत्र है। शरीर से लेकर के सभी क्षेत्र में जीव परतंत्र है। यह बात समझ में आनी चाहिये कि हम कारागृह में हैं उसमें उत्साह, रस लेने योग्य नहीं है। बंदीखाने में किसको रस आता है? मूर्ख है उसको आता है। पागल है न? उसको रस आता है, कि चलो! अच्छा हुआ। कोई समझदार को आयेगा क्या? तो यह भी एक बंदीखाना है और कुछ नहीं है। यह कारागृह के अलावा कुछ नहीं है। ऐसा लगना चाहिये। संसार कारागृह लगना चाहिये।

संसार में समस्त लोक, संसार के सभी जीव दुःख से आर्त्त हैं। सबके परिणाम आर्त्तध्यान वाले हैं कि नहीं हैं? देख लो! किसी को भी पूछो, परिणाम सारे दिन में क्या चलते हैं? आर्त्तध्यान के चलते हैं कि कौन से चलते हैं? एक धर्मात्मा को छोड़कर किसी भी संसारी जीव का परिणाम देखो (तो), चौबीस घंटे आर्त्तध्यान के अलावा कुछ दिखता है क्या? तो आर्त्तध्यान में दुःख के सिवाय क्या होता है? ज्ञानी का यह observation है, सारे जगत के प्रति अवलोकन है कि ‘समस्त लोक दुःख से आर्त्त हैं...’ दुःख

को लेकर आर्त हैं। आर्त हैं यानि आर्तध्यान में आकुलित हैं, 'भयाकुल हैं...' और भय से भी आकुलित हैं। सबको भय है। कैसा भय है? अनित्यता का बड़ा भय है, कि अरे...! कल क्या हो जायेगा? क्या मालूम पड़े (कि) मैं जिंदा रहूँगा या नहीं रहूँगा? जो मेरे अपने वाले हैं वे रहेंगे या नहीं रहेंगे? या कुछ हो जायेगा तो? Accident हो जायेगा, वो हो जायेगा, कुछ ये हो जायेगा? (इस प्रकार) अनिश्चितता का, अनित्यता का भय सभी संसारी प्राणी को दुःख में सताता है। देख लीजिये, सताता है कि नहीं सताता है? कोई कितने भी सम्पन्न हो, राजा-महाराजा, सेठ, श्रीमंत कुछ भी हो, अनित्यता का भय उसको दुःख दायक होगा, होगा और होगा ही।

और 'राग-द्वेष के प्राप्त फल से जल रहे हैं...' कैसा है? अंदर में जलन सबको चलती है। राग और द्वेष के परिणाम हैं, उनके फल से अंदर में चिंतित...चिंतित...चिंतित, जलन...जलन...जलन...जलन...सबको चलती है।

मुमुक्षु:- विकल्प में भट्टी जैसा दुःख लगता है?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, वह तो जो हलुकर्मी होते हैं, उसको तो मंद विकल्प में भी दुःख लगता है। यहाँ तो सामान्य लोगों की बात की है कि संसार के सभी जीव की दुःखमय हालत है। कोई सुखी नहीं है संसार में। 'ऐसा विचार निश्चयरूप ही वर्तता है...' किसको? विचारवान जीव को ऐसा विचार हुआ करता है कि अरे...सभी दुःखी हैं। सारे संसार में दुःख की आग लगी है, सब जल रहे हैं। अब मुझे यहाँ से छूट जाना है, निकल जाना है। क्या करके? चारों ओर आग लगी है तो छलाँग लगाकर मैं बाहर निकल जाऊँ। कैसे निकल जाऊँ? कूदकर निकल जाऊँ मैं, ऐसा भाव आयेगा कि नहीं आयेगा? जब घर में या और कहीं भी चारों ओर आग लगी हो तो कहीं से भी कूदकर भी आग से बाहर निकल जाने का भाव आयेगा कि नहीं आयेगा? ऐसा भाव विचारवान मुमुक्षुजीव को आता है। यह संसार सभी (प्राणी) दुःख से दुःखी...दुःखी...दुःखी...चारों ओर सब दुःखी हैं। मेरे को इस दुःख से छूट जाना है। अभी इस दुःख में नया दुःख आये ऐसे परिणाम मुझे करना नहीं हैं, ऐसे कार्य मुझे करना नहीं हैं।

इसीलिये 'रागद्वेष के प्राप्त फल से सब जलते हैं, ऐसा विचार निश्चयरूप ही वर्तता है...' ऐसा विचार सिर्फ ऊपर-ऊपर का नहीं होता है। क्या होता है? उसका निश्चय होता है। दृढ़तावाला वह विचार होता है। निश्चयरूप यानि? दृढ़तावाला उसका विचार होता है। उसको कोई डिगा सकते नहीं हैं। 'और ज्ञान प्राप्ति का कुछ अंतराय है...' मुझे वर्तमान में जिस ज्ञान से निराकुल सुख-शांति मिले वह ज्ञान की प्राप्ति नहीं है। मुमुक्षु की दशा बहुत विचित्र है। एक ओर उनको संसार दुःख रूप लगता है और असंसाररूप मोक्षमार्ग के परिणाम को वह प्राप्त नहीं हुआ है, बहुत विचित्र परिस्थिति है। तो उसको क्या विचार आता है? कि ज्ञान प्राप्ति का मुझे अंतराय चल रहा है, यानि मैंने कोई ऐसे परिणाम किये हैं और मेरी अयोग्यता ऐसी बन चुकी है। अंतराय यानि क्या है? मेरी अयोग्यता वही मेरा अंतराय है और कोई मेरा अंतराय नहीं है। कि मैं चाहता हूँ, सत्संग से, सद्-ग्रंथ से ज्ञानप्राप्ति तो चाहता हूँ, लेकिन मुझे आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो रही है। मेरे शाश्वत, अव्याबाध स्वरूप का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो रहा

है, ये ही मेरी अयोग्यता है। यह अंतराय मैंने खड़ा किया है। पहले कुछ विपरीतता का सेवन करके वह अंतराय मैंने खड़ा कर दिया है। इसीलिये मुझे अभी वर्तमान में शांति भी नहीं (है) और मुझे संसार में जाना भी नहीं (है), दोनों बात है।

‘इसीलिये (यह) कारागृहरूप संसार मुझे भय का हेतु है...’ (मैं) संसार चलाने में आगे बढ़ूंगा (तो) वह मेरे लिये बहुत आपत्ति का कारण बन जायेगा। भविष्य में दुर्गति के दुःखों का, आपत्ति का कारण बन जायेगा। इसीलिये मुझे वहाँ तो आगे नहीं बढ़ना है। अब मैं कोशिश करूँ ज्ञानप्राप्ति की और आत्मा की सुख-शांति की प्राप्ति हो उसका मैं प्रयास करूँ, लेकिन मुझे संसार में आगे बढ़ना नहीं है।

‘यह कारागृहरूप संसार मुझे भय का हेतु है और लोक का प्रसंग करने योग्य नहीं है...’ समाज, लोग, उन से थोड़ा दूर रहना है मुझे, क्योंकि सब तो संसार में रंग-राग में डूबे हुये हैं। वही बात, वही चर्चा, राग-कथा, भोजन-कथा यही सब विकथार्यें चलेगी। लोग के बीच में क्या (चर्चा) चलने वाली है? कि वही विकथा चलेगी। यहाँ से तो मुझे दूर रहना है। ऐसे पर्यावरण में, ऐसे atmosphere में (वातावरण में) मुझे जीना नहीं है। क्यों? कि मैं तो कमजोर हूँ। मुझे infection (संक्रमण) लग जायेगा ऐसी बातों का। जैसे गंदी हवा में रोग लग जाता है, वैसे समाज में तो सब गंदी हवा है। संसार के लोग अन्य-अन्य लोगों का संबंध बढ़ाने में उत्साहित होते हैं और प्रयत्नवान रहते हैं। जबकि मुमुक्षुजीव है वह लोक से दूर जाने का प्रयत्न करता है। बहुत सुंदर बात की है। मुमुक्षु के लिये थोड़ी शिक्षा मिले, समझने मिले ऐसी बात की है।

अपना प्रयोजन हो, कोई काम हो आना-जाना हो, अलग बात है। बाकी लोगों का, संसारी लोगों का संग करने जैसा नहीं है। यह बात ध्यान में रखने योग्य है। बहुत सुंदर मार्गदर्शन है। कोई भी मुमुक्षु को अच्छे से अच्छा मार्गदर्शन मिले, ऐसी बात है।

मुमुक्षु:- कृपालुदेव ने कमाल कर दिया है, एक-एक विषय पर ऐसा...

पूज्य भाईश्री:- (कृपालुदेव) बहुत ज्ञानीपुरुष थे, महाज्ञानी (पुरुष) थे। और बहुत अनुभवी पुरुष होने से सभी अनुभव में से गुजरे हुये थे। बहुत अनुभव लिया है, बहुत अनुभव लिया है। अभी वर्तमान में छोटी उम्र है २८ साल की लेकिन पूर्व भव में बहुत...करोड़ों भव का (उनका जो आत्मानुभव है) उस अनुभव का निचोड़ उनकी वाणी में आता है। (कृपालुदेव की) यह विशिष्टता है।

(यहाँ) वो कहते हैं कि ‘लोगों का प्रसंग करने योग्य नहीं है...’ लोक प्रसंग से दूर रहना, हो सके वहाँ तक दूर रहना। ऐसा प्रश्न हो सकता है यहाँ पर, कि भाई क्या करें? व्यवहार में तो व्यवहार निभाना पड़ता है, लोगों के साथ। लोगों के साथ रहना है तो उसका व्यवहार भी निभाना पड़ता है। तो यहाँ पर एक प्रश्न अपने आपको पूछना चाहिये। कि क्या हमें लोगों के बीच में अनंतकाल रहना है? या लोगों से छूटकर लोकोत्तर स्थान में, सिद्धालय में जाना है? क्या करना है? ध्येय को निश्चित करो कि अपना ध्येय क्या है? संसार में रहने का ध्येय है या मुक्त होने का ध्येय है? ध्येय नक्की किये बिना तो कोई काम होने

वाला है नहीं। तो अगर ध्येय संसार में रहने का है तो इसका तो कोई इलाज नहीं है। फिर तो भटकना पड़ेगा। अब जो (यदि ध्येय) मुक्त होने का है तो हो सके उतना प्रसंग को कम करो। कितना? जितना बन सके उतना कम करो, कम करते जाओ। संक्षेप करो, बढ़ाने का तो विचार छोड़ दो लेकिन जो भी संबंध है, उसको भी जितना हो सके उतना कम करो।

अभी वो अपने स्थानकवासी के वह बड़े नेता हैं न! हस्तिमलजी। वो परिचय में आये ना। आबू की शिबिर जिसने अपना बनाया। इतनी संस्था में वो जुड़े हुये हैं, इतनी संस्था में हिन्दुस्तान भर की। अब हर जगह इस्तीफ़ा लिख दिया। क्या किया? संसार के कारोबार को तो छोड़ दिया था। व्यापार-व्यवसाय को छोड़ दिया था। और घर को भी छोड़कर उपाश्रय में आकर बैठ गये थे। क्या? धार्मिक वृत्ति वाले आदमी हैं तो उतना तो संक्षेप कर लिया था। संपत्ति बड़ी है फिर भी सबको छोड़कर, व्यवस्थित करके, लड़ाई-झगड़ा-टंटा नहीं हो लड़कों में-परिवार में, स्वयं बैठ गये उपाश्रय में। अब इस line का थोड़ा परिचय हुआ। अभी तो प्रारंभ हुआ है, शुरूआत हुयी है। तो उनको यह बात तो समझ में आ गयी कि लोगों का परिचय बढ़ाने लायक बात नहीं है। अगर अपना आत्मकल्याण करना है तो यह सब झंझट से दूर हो जाना पड़ेगा। सब जगह इस्तीफ़ा लिख दिया। हमको कहीं भी नहीं रहना है। हमको हमारा काम करने दो अभी। ये विचार सबसे पहले आयेगा। यह विचार सबसे पहले आयेगा कि हमको तो अपना काम करना है। इसीलिये हमको फुर्सत चाहिये। इन संस्थाओं की जो झंझट है, इसमें तो गड़बड़ी आजकल बहुत है। वह तो स्वयं को अनुभव तो बहुत था। बुजुर्ग आदमी है। सब जगह से हट गये, सब जगह से।

(यहाँ कहते हैं) 'लोगों का प्रसंग करने योग्य नहीं है, यही एक भय विचारवान को घटित होता है...' 'यही एक भय...' (यानि) कौन सा? कि मेरा अज्ञान नहीं मिटेगा तो मैं संसार में अनंतकाल दुर्गति में दुःख भोगने के लिये भटकूँगा। बड़ी आपत्ति मेरे सामने खड़ी है। जैसे-कैसे भी अभी अवकाश है, प्रारब्ध योग से जैन धर्म मिला है, प्रारब्ध योग से मनुष्यपना भी मिला है, प्रारब्ध योग से ज्ञानीयों के संसार को तिरने के लिये जो वचन मिलने चाहिये, उपदेश मिलना चाहिये, वह भी हमको मिला है। अब इस मौके का मैं पूरा, पूरा फायदा उठा लूँ। अब मुझे संसार में भटकना नहीं है। अब बोलिये संसार की बाड़ी हरी-भरी रखनी है या उज्जड़ करनी है? एक नया प्रश्न थोड़ा विचार कर लें हम, क्यों? कि हमको अब हमारी संसार की बाड़ी हरी-भरी रहे, उसमें हम राजी हैं और ऐसा नहीं हो तो हम नाराज हैं। ऐसा होता है कि नहीं होता है? देखो, जिनको संसार में भटकना है उनके लिये वह बात है। जिनको संसार से छूट जाना है, उनको तो अपने आत्मकल्याण के अलावा कोई लक्ष नहीं, कोई ध्येय नहीं, कोई निष्ठा नहीं, कोई धुन नहीं, कोई बात दूसरी होती नहीं। एक ही धुन होती है।

अब परिषह के विषय में कुछ विशेष बात दूसरे पॉराग्राफ में वे खोलना चाहते हैं। परिषह यानि क्या? परिषह यानि प्रतिकूल प्रसंग। क्या? प्रतिकूल प्रसंग। उसको परिषह कहते हैं। दो शब्द हैं, उपसर्ग और परिषह। उपसर्ग दूसरे की ओर से किया जाता है। मनुष्य से, तिर्यच से और देव से तीन प्रकार के

उपसर्ग होते हैं। और परिषह है वह कुदरत की प्रतिकूलता है। कुदरत से जो प्रतिकूलता आती है उसको कहते हैं-परिषह। उस विषय में थोड़ी विशेष बात (कृपालुदेव) कहना चाहते हैं।

‘महात्मा श्रीतीर्थकर ने निर्ग्रथ को प्राप्त परिषह सहन करने की बार बार शिक्षा दी है।’ भलामण यानि शिक्षा।हिघली

‘महात्मा श्री तीर्थकर ने निर्ग्रथ...’ यानि मुनिराज को। निर्ग्रथ यानि मुनिराज को जो भी प्राप्त परिषह हो यानि कुदरती ठंडी-गर्मी बढ़ जाती है, बारिश बढ़ जाती है, अनेक प्रकार की प्रतिकूलता (आती हैं), शरीर में रोग आ जाता है, वह सब परिषह हैं। क्षुधा बहुत लगे और आहार का योग नहीं बने उसको क्षुधा परिषह कहते हैं। तृषा बहुत लगे, लेकिन पानी तो मुनि को एक बार आहार के बाद ही लेना होता है। दूसरी बार मुनिराज आहार-पानी लेते नहीं हैं। तो तृषा परिषह होता है। ऐसे अनेक प्रकार के जो परिषह हैं, बाईस प्रकार के हैं। कितने? बाईस प्रकार के परिषह हैं। वह तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वामी ने लिखें हैं, सूत्रजी में।

तो कहते हैं कि सभी प्रकार के परिषह सहन करना। सहन करना मतलब क्या? समभाव से उस प्रसंग में रहना। ऐसे प्रसंग में समभाव से रहना। आकुलित नहीं होना उसका नाम सहन करना है। हम लोग क्या करते हैं? कि बहुत दुःखी हो जाते हैं और कहते हैं कि देखो, हमको दुःख सहन करना पड़ता है, वह सहन नहीं किया है। दुःखी परिणाम हो, आकुलित परिणाम हो, वह सहन करने की बात नहीं है। ज्ञाता-दृष्टा रहकर-ज्ञानभाव में स्थिर रहकर के और परिषह के जो प्रसंग हैं, उनसे भिन्न अपना अनुभव करके, निराकुल परिणाम में जो रहा जाये, उसको कहते हैं कि सहन करना। उसको परिषहजय कहते हैं और परिषह को सहन किया ऐसा कहने में आता है। तो उस तरह से भगवान ने सूचना की है कि जो भी परिषह आ जाये, प्राप्त हो उनको समभाव से वेदन करना। समभाव से वेदन करना (यानि) समभाव से भोग लेना, समभाव में अनुभव करना, समभाव का अनुभव करना, आकुलता का अनुभव नहीं करो।

मुमुक्षु:- मुमुक्षु को क्या करना?

पूज्य भाईश्री:- मुमुक्षु की तो बात करेंगे, बात तो वहीं ले जाना है। बात तो वहीं ले जाना है, लेकिन ऊपर से शुरू किया है बात तो वहीं ले जायेंगे। क्योंकि कृष्णदास की बात परिषह की है न, उनको भी परिषह है, कोई इसी प्रकार का परिषह होगा। अज्ञान परिषह और दर्शन परिषह दो बात किया है। तो बात तो वहीं ले जाना है। लेकिन जो बात रखने का ढंग है वह थोड़ा विशेष प्रकार का है, इसीलिये पद्धति बहुत अच्छी है।

‘यह परिषह का स्वरूप प्रतिपादन करते हुये...’ कौन? तीर्थकर देवा। ‘यह परिषह का स्वरूप प्रतिपादन करते हुये अज्ञान-परिषह और दर्शन-परिषह ऐसे दो परिषहों का प्रतिपादन किया है...’ बाईस परिषह में दो परिषह का और नाम हैं, अज्ञान-परिषह और दर्शन-परिषह। दो परिषह का नाम हैं। ‘दो परिषह प्रतिपादन किया है, कि कोई उदय योग से बलवानपना हो। क्या? कोई उदययोग का बलवानपना

हो...’ (अर्थात्) ऐसा कोई उदय हो, बलवान प्रारब्ध का उदय हो। ‘और सत्संग और सत्पुरुष का योग होने पर भी जीव को अज्ञान के कारण टालने में हिम्मत नहीं चल सकती हो, उलझन में आ जाता हो, तो भी धीरज रखना...!’ देखो! ये किसको लिखा? मुमुक्षुजीव को लिखा। ये मुमुक्षुजीव के लिये लिखा है। कि देखो, यह अज्ञान और दर्शन यानि अश्रद्धा, दर्शन-परिषह यानि जो विपरीत श्रद्धा है वह दर्शन परिषह है। विपरीत श्रद्धा को और विपरीत ज्ञान को परिषह कहने में आया है। क्योंकि वह जीव को प्रतिकूलता देता है, दुःख देता है, इसीलिये। उन दो परिषहों का प्रतिपादन किया है और कोई उदय योग का बलवानपना हो, क्या? उदय ऐसा कोई प्रतिकूल हो, ‘और सत्संग और सत्पुरुष का योग होने पर भी...’ देखो, योग तो अच्छा हुआ। सत्संग भी मिलता है और सत्पुरुष का उपदेश भी मिलता है, प्रत्यक्ष योग होता है।

‘जीव को अज्ञान के कारण टालने में हिम्मत न चल सकती हो...’ इसका मतलब क्या हुआ? यह एक जरा समझने लायक बात है। (मुमुक्षु को ऐसे भाव चलते हैं कि) कि भाई, ‘मैं कोई कदम उठाऊँगा...’ कोई धंधा का संक्षेप करता है, कोई निवृत्ति ले लेता है, लेने का विचार करता है सत्संग और सत्पुरुष के कारण से। तो उनको लगता है कि ‘अगर मैंने धंधा छोड़ दिया और बाद में मैं निर्धन हो जाऊँगा तो? मेरी कमाई का साधन तो मैंने छोड़ दिया, निवृत्ति ले लिया, अब भविष्य में कोई प्रतिकूलता आ जायेगी तो मेरा क्या होगा? अगर धंधा चालू होगा तो, मेरी आमदनी चालू है तो, कोई प्रतिकूलता आयेगी तो भी आमदनी से पूर्ति हो जायेगी। वह आमदनी तो रखी नहीं मैंने या नहीं रखूँ तो मेरा क्या होगा?’ (ऐसे सब विचार आने से) वह हिम्मत नहीं चलती है। क्या होता है? हिम्मत नहीं चलती है। ‘कुछ तो मेरे लिये साधन रख लेना चाहिये। कोई ऐसी व्यवस्था नहीं बिठाऊँगा तो मैं तकलीफ में आ जाऊँगा। आगे मेरा क्या होगा?’ ये जो हिम्मत का एक कदम उठाने का एक मौका आता है, यह एक बात है।

दूसरी बात, (किसी को ऐसा विचार आता है कि) कि भाई, चलो मेरा कारोबार चालू है, लेकिन मैं विशेष रूप से सत्संग में मेरा ध्यान रखता हूँ और समय गुजारता हूँ तो मेरे धंधे में कोई गड़बड़ हो जायेगी तो? उलट-पलट हो जायेगा तो? नुकसानी आ जायेगी तो? मेरी सावधानी वहाँ नहीं रहेगी और मेरी सावधानी आत्मकल्याण के कार्य में हो जायेगी और कारोबार में, व्यवसाय में मेरी सावधानी या ध्यान कुछ कम हो जायेगा, (और) इस कारण से कोई प्रतिकूलता आ जायेगी तो? (इस तरह) एक बार यह हिम्मत, ना हिम्मत होने का एक प्रसंग आ जाता है।

फिर से, कोई मुमुक्षुजीव जब अपने जीवन का प्रवाह पलटने का विचार करता है या निश्चय करता है कि मुझे अभी मेरा जीवन बदलना है। संसारी लोग जैसे संसार में भटकते हैं, कर्म बंधन कर करके, ऐसा तो मुझे नहीं करना है। अब मुझे सत्संग मिला है, सत्पुरुष का योग मिला है, मुक्ति का मार्ग मिला है तो मैं इस मार्ग में चला जाऊँ। तो मुझे सांसारिक कार्यों से हटना पड़ेगा या यहाँ से मेरा जो ध्यान है, attention है उसमें फर्क पड़ जायेगा। अगर ऐसा होगा तो मुझे प्रतिकूलता आ जायेगी तो? तो उसका

एक हिम्मत के लिये एक मौका आता है। हर एक को एक भय होता है। जब यह प्रसंग आता है तो ये भय खड़ा हो ही जाता है।

और क्या कहते हैं? कि 'सत्पुरुष और सत्संग का योग होने पर भी जीव को अज्ञान के कारण...' अज्ञान के कारण कौन हैं? अपने प्रसंग, संसारी प्रसंग हैं, उसको टालना है (लेकिन) इसकी हिम्मत नहीं चल सकती हो, उसकी हिम्मत नहीं चलती है, विचलित होने का प्रसंग हो जाता है (कि) क्या करें? क्या नहीं करें? क्या करें? ऐसा करें या ऐसा नहीं करें? ऐसा करें या ऐसा नहीं करें? ऐसा करें या ऐसा नहीं करें? उलझन में आ जाता है। क्या होता है? उलझन में आ जाता है। बहुत उलझन में आ जाता है कि अब क्या करना? क्या करना अभी? इधर (सत्संग में) जाते हैं तो ये (सांसारिक प्रतिकूलता का) भय लगता है, इधर नहीं जाते हैं तो संसार का-परिभ्रमण का भय लगता है। अगर मोक्षमार्ग में आगे नहीं बढ़ते हैं तो परिभ्रमण का भय लगता है। संसार में नहीं आगे बढ़ते हैं तो प्रतिकूलता का भय लगता है। तो उलझन में आ जाता है। मुमुक्षुजीव उलझन में आ जाता है। ऐसा सबके लिये थोड़ा बनता है।

'तो भी...' (यानि) ऐसी परिस्थिति में। (कृपालुदेव) अब मार्गदर्शन देते हैं; 'तो भी धीरज रखना...' क्या करना? धीरज रखना, balance (संतुलन) रखना। थोड़ा शांत चित्त से विचार करना। कोई हड़बड़ी में कोई काम नहीं करना है, उतावली में कोई काम करना नहीं है, उतावली में कोई action नहीं लेना है। क्यों? (क्योंकि) कोई जीव भावुकता में आकर कभी उतावली में कोई निश्चय ले लेता है। अभी उसकी परिपक्वता तो आयी नहीं, ज्ञान प्राप्ति हुयी नहीं, मुमुक्षुता भी इतनी mature (परिपक्व) नहीं हुयी, तो परिपक्वता नहीं आयी, (और) कोई कदम उठा लिया, बाद में प्रतिकूलता आयी, प्रतिकूलता आयी तो फिर परिणाम बहुत बिगड़ने लगे ऐसे नहीं करना है। एक, और भय के मारे मार्ग भी छोड़ देना नहीं। भय के कारण से मार्ग को भी छोड़ देना नहीं।

'तो भी धीरज रखना...' पहले तो शांति से धीरज रखकर के विचार करना। और 'सत्संग (एवं) सत्पुरुष का योग विशेष विशेष करके आराधन करना...' ये जो परिपक्वता है वह सत्संग से आयेगी। इसके बिना इसका कोई दूसरा इलाज नहीं है। वही एक इलाज है। ऐसे समय में धीरज रखकर 'सत्संग और सत्पुरुष का योग विशेष विशेष करके आराधन करना; तो अनुक्रम से...' यानि आगे जाकर के अनुक्रम से यानि आगे जाकर के कुछ काल पाकर के 'अज्ञान की निवृत्ति होगी;...' सत्संग और सत्पुरुष के योग से अज्ञान मिटेगा तो ताकत आ जायेगी। शक्तिहीन कोई कूदका (छलांग) लगाता है तो गिर जाता है। तो पहले शक्ति को प्राप्त करो। क्या मार्गदर्शन दिया? कि तुम पहले शक्ति को प्राप्त करो। सत्संग में रहकर विशेष रूप से सत्संग में रहकर शक्ति को प्राप्त करो। और ताकत आ गयी तो छोड़ना आसान हो जायेगा। किसी भी प्रसंग में तुमको तकलीफ होने वाली नहीं है। परिणाम गिरेंगे नहीं। यह बात हो जायेगी।

'तो अनुक्रम से अज्ञान की निवृत्ति होगी; क्योंकि निश्चय जो उपाय है, और जीव को निवृत्त होने की बुद्धि है...' क्या? एक तो यह खरा (सच्चा) उपाय है, संसार से मुक्त होना ये खरा उपाय है इसका।

निश्चय जो उपाय है और जीव को संसार का नाश करने की तो बुद्धि है, उसका अभिप्राय तो पक्का है कि मुझे अभी संसार में भटकना नहीं है। 'तो फिर यह अज्ञान निराधार होता हुआ किस प्रकार से रहेगा?' देखो, क्या बात किया है? कि निश्चय जो उपाय है वह तो अज्ञान का नाश करना वही उपाय है, दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। जैसे-तैसे भी अज्ञान का नाश करके आत्मज्ञान की प्राप्ति करे वही जन्म-मरण और संसार से छूटने का उपाय है। वह तो निश्चय उपाय है। दूसरा कोई उपाय तीन काल-तीन लोक में है ही नहीं। वह तो एक निश्चय उपाय है। दूसरा, जीव को अज्ञान को नाश करने का अभिप्राय हो गया है कि मैं जैसे-तैसे भी अज्ञान को टालूँगा, टालूँगा और टालूँगा। यही मेरा कर्तव्य है। 'तो फिर यह अज्ञान निराधार होता हुआ किस प्रकार से रहेगा?' तो वो अज्ञान है उसको आधार नहीं रहा। इसका मतलब क्या हुआ? कि जीव को अज्ञान कब तक रहता है? जीव को अज्ञान कब तक रहता है? कि जब तक वह उसको टालने का निर्धार नहीं करता है तब तक क्यों? कि खुद आत्मा जो अनंत शक्तिवाला है वही उसको रखने के लिये आधार दे रहा है। उस अज्ञान को आधार किसका मिलता है? अपना खुद का आत्मा का ही मिलता है। जिसमें बहुत शक्ति है, वह आत्मा (ही) हट गया कि मुझे अब ये अज्ञान किसी कीमत पर नहीं रखना है, किसी भी कीमत पर मुझे अज्ञान को नहीं रखना है, क्योंकि वही जन्म-मरण को टालने का उपाय है। वही कारण है, तो फिर जिसको आधार नहीं रहा, अज्ञान तो आत्मा की अवस्था में है, आत्मा का आधार नहीं रहा, (तो) वह कैसे रहेगा? प्रश्न करते हैं।

इसका मतलब यह हुआ कि जो कोई जीव, मुमुक्षुजीव अज्ञान और मिथ्यात्व टालने का निर्धार करता है, (तो) उनका अज्ञान और मिथ्यात्व नियम से टलता ही है। Guaranteed टलता है। उसमें कोई शंका की गुंजाइश नहीं है। संसार में कोई काम का प्रयास करो, सफलता मिले, नहीं मिले, आपके हाथ की बात नहीं है। लेकिन परमार्थ में, आत्मकल्याण में प्रयास करने वाले को अवश्य-अवश्य सफलता मिलती ही है। ये बात ज्ञानीयों की guarantee की है। 28 साल की उम्र में बंबई की बड़ी गद्दी पर बैठकर के चिट्ठी लिख रहे हैं। कहाँ बैठे हैं? बंबई में बैठे हैं। बहुत बड़ा कारोबार चल रहा है, 28 साल की जवान उम्र है और लिख रहे हैं कि 'देखो भाई, बात तो ऐसी है हम तो अंदर से निवृत्त हो गये हैं, थोड़ा प्रारब्ध भोगने का बाकी है तो गद्दी पर बैठे हैं। जो कर्ज किया है, दे देंगे जिसका कर्ज है उसको वापस और आप लोग (भी) अज्ञान का नाश करो। हम अज्ञान का नाश करके यह बात करते हैं।' कैसे बात करते हैं? अज्ञान का नाश करके (बात करते हैं)। चार साल पहले अज्ञान का नाश कर लिया है। चार साल हो गये है। अज्ञान का नाश करके मुमुक्षु को रास्ता बता रहे हैं, ऐसा करना योग्य है और (ऐसा करने से) अज्ञान रहने वाला नहीं है।

(अगर) आत्मा को अज्ञान का आधार मिट गया, छूट गया तो यह अज्ञान रहने वाला है ही नहीं। और अज्ञान नहीं रहेगा तो आप संसार के जन्म-मरण से छूट जाओगे और हमेशा के लिये सुख-शांति को प्राप्त कर लोगे।

‘एक मात्र पूर्वकर्म योग सिवाय वहाँ कोई उसको आधार नहीं है।’ जो पूर्वकर्म का प्रसंग है, प्रारब्ध है, किसी को व्यवसाय का, किसी को नौकरी का, किसी को कुछ, किसी को कुछ, ठीक है, प्रारब्ध, प्रारब्ध की जगह रहने दो। अंदर से आत्मा को हटा लो। अंदर से आत्मा को हटा लो, यही करने योग्य है। तो उस विषय में और भी विशेष मार्गदर्शन देंगे इसी पॅराग्राफ में।(वह कल के स्वाध्याय में लेंगे, समय समाप्त हुआ है)।

प्रवचन-8, दि. 10-08-1996

पत्रांक-537 (2), भावनगर

(श्रीमद् राजचंद्र वचनमृत) पत्र-537, नीचे का paragraph है। परिषह का विषय लेना है कि कोई भी प्रकार का परिषह आ जाये तो उसे सम्यक प्रकार से, ज्ञाताभाव से वेदन करना, ऐसी तीर्थकर देव की शिक्षा है। ऐसे परिषह का प्रतिपादन करते हुये अज्ञानपरिषह और दर्शनपरिषह, ऐसे दो परिषह का भी प्रतिपादन किया है। बाईस प्रकार के परिषहों का प्रतिपादन किया है, जिसमें अज्ञानपरिषह और दर्शनपरिषह ऐसे दो प्रकार के परिषह भी होते हैं ऐसा प्रतिपादन किया है। (परिषह) यानि क्या? कल हमारा ये विषय चला था।

‘कि किसी उदय योग की प्रबलता हो’ उदय योग की प्रबलता यानि क्या? कि बाहर में अपनी इच्छा अनुसार कदम नहीं उठा सकता हो, क्या? जैसे किसी को निवृत्ति लेनी हो, दृष्टांत लें तो किसी मनुष्य को ऐसा विचार आया कि मुझे आत्मकल्याण करना है और एकमात्र आत्मकल्याण कर ही लेने जैसा है, ऐसा उसे समझ में आया हो। कि एकमात्र मुझे आत्मकल्याण कर लेना चाहिये। इस मनुष्यभव में सब कुछ गौण करके आत्मकल्याण के पीछे मुझे लग जाना चाहिये। ऐसा करने के लिये उसे जो निवृत्ति चाहिये, ऐसी निवृत्ति ले सके ऐसी उसकी परिस्थिति नहीं भी हो अथवा निवृत्ति लेने जाये, फिर भी निवृत्ति लेने जाये जोर करके (उस वक्त हिम्मत नहीं चलती हो) क्या? अब ऐसी स्थिति में अगर आधार सामने मिलता हो, कि ‘सत्संग और सत्पुरुष का योग होने पर भी’ क्या? वरना तो ऐसा लगता है कि कहाँ जाकर बैठें? निवृत्ति लेकर भी जाना कहाँ? अगर यथार्थ सत्संग नहीं मिलता हो तो कहाँ जाना? परंतु योग बैठता हो सामने, फिर भी ‘जीव को अज्ञान के कारण टालने की हिम्मत न चल सकती हो’ और उलझन में आ जाता हो तो कि क्या होगा? कोई कदम उठाने जाये तब उसकी हिम्मत नहीं चलती है। (उसे) ऐसा लगता है कि ये कदम उठाया और इतना नुकसान हो जायेगा तो? ऐसा कदम उठायेंगे और भविष्य में कोई तकलीफ होगी तो? वर्तमान में कोई तकलीफ होगी तो? अथवा जो कोई कुटुंब-परिवार के सदस्य है वे सभी विरुद्ध हो जायेंगे तो, क्या? ऐसे अनेक प्रकार के विकल्प उसे आने लगते हैं।

अब, ये मुमुक्षु की एक भूमिका ऐसी है कि जिसके पास ज्यादा बल भी नहीं है और उसे बिल्कुल कुछ करना नहीं है ऐसा भी नहीं है। (आत्मकल्याण) करना भी है और बल अपर्याप्त है। अतः ऐसे सब विकल्पों में वह जीव उलझ जाता है, ऐसा बनता है। और प्रायः बहुभाग मुमुक्षुओं को ऐसा बनता है।

जिन्हें पत्र लिखा है, यह पत्र मुमुक्षु भाइयों को लिखा है उनमें से कृष्णदासभाई की कुछ ऐसी परिस्थिति (कृपालुदेव ने) देखी है। अतः इस प्रकार इस बात में उन्हें क्या मार्गदर्शन देना, इसका विचार करते हैं कि ऐसी ही कुछ उनकी परिस्थिति देखी है।

मुमुक्षु:- 536 पत्र में इस विषय में कुछ reference दिया है।

पूज्य भाईश्री:- ५३६ में 'मुमक्षु जीव को दो प्रकार की दशा रहती है, एक 'विचारदशा' और दूसरी 'स्थितप्रज्ञदशा'। स्थितप्रज्ञदशा विचारदशा के लगभग पूरी हो जाने पर...' यानि परिपक्वता आने पर, विचारदशा से आगे बढ़े तब, 'सम्पूर्ण होने पर प्रगट होती है। उस स्थितप्रज्ञदशा की प्राप्ति इस काल में कठिन है; क्योंकि आत्मपरिणाम के लिये व्याघातरूप योग इस काल में प्रधानरूप से रहता है,' अर्थात् क्या है? स्थितप्रज्ञदशा यानि ज्ञानदशा जैसी दशा है, क्या? कि प्रज्ञा स्थिर होकर विचार करे, एक भी तरफ खींच नहीं जाती परंतु स्थितप्रज्ञ होकर विचार करे। अपने एक आत्मकल्याण के अंदर स्थित रहे और प्रज्ञा बराबर विवेक करे। ऐसी स्थिति इस काल में कठिन है 'क्योंकि आत्मपरिणाम के लिये व्याघातरूप योग इस काल में प्रधानरूप से रहता है।' आत्मपरिणाम न होने दे और इसमें बाधकपना उत्पन्न हो, ऐसे ही प्रकार के संयोगों के बीच सब जीव अभी जी रहे हैं और ऐसी ही परिस्थिति है। गृहस्थदशा में मुख्यरूप से यह परिस्थिति है। 'और इससे विचारदशा का योग भी सद्गुरु और सत्संग के अभाव से प्राप्त होता नहीं...' और इस काल में सद्गुरु और सत्संग की प्राप्ति मुश्किल-कठिन होने से विचारदशा का योग भी बहुभाग जीवों को प्राप्त नहीं होता। आत्मकल्याण का भाव तो बहुत से जीवों को आता भी हो लेकिन फिर उसे (अनुरूप) सत्संग मिलना ये एक दूसरी बात है। अतः केवल विचारदशा सत्संग के अभाव में काम करती नहीं। 'वैसे काल में कृष्णदास विचारदशा की इच्छा करते हैं...' ऐसे इस काल में कृष्णदास स्वयं विचारदशा की इच्छा करते हैं और 'यह विचारदशा प्राप्त होने का मुख्य कारण है...' विचारदशा की इच्छा होना ये विचारदशा की प्राप्ति में मुख्य कारण है। आत्मकल्याण की इच्छा, यही आत्मकल्याण प्राप्त होने में मुख्य कारण है। 'और ऐसे जीव को भय, चिंता, पराभव आदि भाव में निजबुद्धि करना योग्य नहीं है...' और जिसको विचारदशा प्रगट करनी हो, मुमक्षु में भी जिसको विचारदशा प्रगट करनी हो, उसे कोई भय नहीं रखना चाहिये। किसी भी प्रकार के संयोगों का (प्रतिकूलता का) भय नहीं रखना चाहिये। किसी भी प्रकार की उसे बाह्य चिंता नहीं रखनी चाहिये। बात तो कठिन है लेकिन फिर भी जिसे विचारदशा प्राप्त करनी हो उसे भय नहीं रखना है, चिंता नहीं रखनी है, पराभव यानि हारा (अर्थात्) किसी प्रसंग में स्वयं को पीछे हटना पड़े, तो मैं हार गया, ऐसी निजबुद्धि नहीं रखनी चाहिये, क्या? निजबुद्धि के कारण भय हो जाता है, चिंता होती है और पराभव हो जाने पर उसे शोक होता है, खेद होता है। इन सब प्रकार के depression में आना हो जाता है। ऐसा करना योग्य नहीं 'तो भी धैर्य से उन्हें समाधान होने देना और निर्भय चित्त रखवाना योग्य है।' कृष्णदासभाई के विषय में ये पत्र फिर से लिखा है। एक कार्तिक सुदि ३ को लिखा है, फिर चार दिन बाद फिर से लिखा है। और बीच में अंबालालभाई द्वारा लिखित जवाब मिल चुका है कि अंबालाल का लिखा हुआ एक पत्र आज प्राप्त हुआ है, ये फिर से लिखा है। क्योंकि यह (536) पत्र अंबालालभाई पर ही लिखा है और 537 प्रतिउत्तर में स्वयं फिर से लिखते हैं। अतः ऐसी परिस्थिति देखकर ही मार्गदर्शन दे रहे हैं। जो मार्गदर्शन देते हैं, वह उनकी परिस्थिति देखकर देते हैं, क्या?

यह तो क्या है कि सबको ये विषय कहाँ लागू होता है? कि आत्मकल्याण को चाहने वाले जो मुमक्षु हैं, उन्हें आत्मकल्याण में विशेष अग्रेसर होना हो, तब बाह्य निवृत्ति की विशेष जरूरत पड़ती है। क्योंकि अभी इतनी ज्यादा प्रवृत्ति वाला जीवन है कि अगर यों कि यों प्रवृत्ति चालू रखे तो सत्संग के

लिये उतना समय नहीं मिलता। इसीलिये उसे (मुमुक्षु को) समय निकालना हो तो या तो प्रवृत्ति संक्षेप करना पड़ता है या प्रवृत्ति में से निवृत्त होना पड़ता है। दो में से एक करना पड़ता है। और ऐसा करने जाये तब हिम्मत नहीं चलती हो, हिम्मत हार जाता हो कि आगे क्या होगा?

जैसे कल हमने एक बात इस प्रकार से ली थी कि भले ही अपनी प्रवृत्ति अधिक न हो, सामान्य प्रवृत्ति हो तो संक्षेप करने की भी जरूरत नहीं होती है और निवृत्त होने की भी जरूरत न होती है, लेकिन अगर हम व्यापार में ध्यान नहीं देंगे और हमारा ध्यान ज्यादा सत्संग में और आत्मकल्याण के विषय में रहेगा और तब व्यापार में ग्राहकी टूट जायेगी? या हमारा ध्यान न रहा तो ग्राहक को असंतोष होगा या हमारा ध्यान न रहा तो असावधानी के कारण, बेसावधानी के कारण कुछ नुकसान हो जायेगा तो? इस प्रकार हिम्मत हार जाने के बहुत से प्रकार परिणाम में खड़े होते हैं और मुमुक्षुजीव को उलझन होती है। इस तरह अलग-अलग प्रकार से उलझन खड़ी होने की एक परिस्थिति आती है। मुमुक्षुजीव की एक परिस्थिति ऐसी होती है और ऐसी उलझन होती है कि अब क्या करें?

किसी को प्रतिकूलताएँ होती हैं, किसी को अनुकूलतायें हो तो भी इस प्रकार के विकल्प आये बिना रहते नहीं। क्यों आये बिना रहते नहीं? क्योंकि अभी तक इस जीव ने सुखबुद्धि और आधारबुद्धि तो बहुत दृढ़ कर ली है। अब ये जो आधारबुद्धि जिस विषय में है, ऐसे जो व्यवसाय आदि है, इसमें असावधानी या सावधानी कम करने में आये और अपने स्वरूप में सावधान होने के लिये आत्मकल्याण के मार्ग में विशेष ध्यान देने में आये, तब योगानुयोग कभी ऐसी कोई बात बन भी जाती है, इस अनुसार कोई परिस्थिति कभी बन भी जाती है। कि स्वयं का ध्यान भी न रहा हो तब कुछ नुकसान हो भी जाये और विचारदशा में इतनी कमजोरी होती है कि ऐसा होगा तो? ऐसा होगा और नुकसान हो जायेगा तो? ऐसा होने पर ऐसा होगा तो? तब वह जीव tension (तनाव) में आ जाता है, क्या होता है उसे? अंदर से tension में आ जाता है ऐसा बनता है, क्या?

मुमुक्षु:- भाईश्री, परंतु जिस जीव ने निवृत्ति ले ली है और उसे आत्मकल्याण भी करना है। फिर भी अज्ञान छोड़ने में उसका बल न चलता हो, ऐसे जीव को क्या करना?

पूज्य भाईश्री:- उसे तो सत्संग की उपासना करना। एक ही उपाय है कि सत्संग की उपासना करना। यहाँ ऐसे जीव को नहीं लिया है कि सब जगह से निवृत्ति ले ली हो, दूसरी कोई चिंता न हो, फिर भी आगे नहीं बढ़ा जाता हो, उसे क्या करना? प्रश्न ऐसा है। उसने क्या किया है कि पूर्व में रस लिया हुआ है। अभी भले ही प्रवृत्ति न हो और इस प्रकार का प्रारब्ध उदय नहीं होने से प्रवृत्ति नहीं है। निवृत्ति भी जो है वह एक प्रकार का प्रारब्ध उदय ही है। अतः निवृत्ति मिल जाये तो आत्मकल्याण हो ही जाये, ऐसा नहीं है।

परन्तु प्रारब्ध उदय से जब किसी को निवृत्ति मिल जाती है तब उसे इस निवृत्ति की कीमत नहीं होती। बहुभाग जीव भूल कहाँ करता है? कि इस निवृत्ति की उसे कीमत नहीं होती। इसीलिये फिर

आत्मकल्याण के विषय को छोड़कर फालतू क्षुद्र प्रसंगों में स्वयं अपना समय और शक्ति व्यर्थ गँवाता है और रस लेता है, क्या? ऐसा भी बनता है।

ऐसे तो मनुष्य सामान्यतः कुटुंब-परिवार में रस लेता है। परंतु कुटुंब-परिवार से निवृत्त हुआ हो वह पुनः अन्य दूसरे कुटुंब-परिवार में रस लेता है। यानि कि जहाँ भी सत्संग में जाता हो वहाँ दूसरा समूह तो आता ही है, जहाँ सामूहिक सत्संग चलता हो वहाँ तो दूसरे मुमुक्षु भी आते हैं, तो फिर उनकी पंचायत में पड़ता है। उन पर इसका ध्यान जाता है कि ये क्या करता है? इसने क्या किया? ये क्या करता है? यहाँ क्या चलता है? यहाँ क्या चल रहा है? ये सब हो जाये, फिर तो उसने एक दुकान बंद करके दूसरी दुकान चालू कर दी, निवृत्ति में भी। यानि वह (मुमुक्षुओ का समूह) भी एक परिवार ही है, इस परिवार में भी फिर उसकी माथाकूट शुरू हो जाती है। ऐसा सब होता है इसीलिये स्वयं को जो कुदरती निवृत्ति, पुण्ययोग से मिली है उस निवृत्ति की भी उसे कीमत नहीं आती। और इसीलिये उस निवृत्ति का उसे लाभ नहीं मिलता। अब विचार कर लेना कि निवृत्ति का लाभ हमें क्यों नहीं मिला? क्योंकि, स्वयं को निवृत्ति की जो गंभीरता समझनी चाहिये और इस गंभीरता से उसे जो लाभ लेना चाहिये, वह लाभ लेने के बजाय स्वयं फालतू समय बर्बाद करता है। वरना ये एक इतना सुंदर मार्ग है कि कम समय में भी अधिक लाभ हो सकता है, ऐसा है।

अगर जीव एक लक्ष्य से, एक ध्येय से, एकनिष्ठा से, एक धारा से काम करने लग जाये तो अल्पकाल में, थोड़े समय में बहुत प्रगति और विकास होगा यह बात guaranteed है, न हो, ऐसा नहीं है। परंतु जीव स्वयं ही असावधान रहे, स्वयं ही प्रमाद करे, प्रमाद करे यानि अन्यथा समय बिगाड़े इसका नाम प्रमाद है, तो इसका कोई उपाय नहीं है।

क्या कहते हैं? कि 'अज्ञान के कारणों को दूर करने की हिम्मत न चल सकती हो...' (अर्थात्) उलझन में हो, और 'आकुलता आ जाती हो, तो भी धैर्य रखना...' उस वक्त क्या करना? धीरज (धैर्य) रखना। धीरज रखकर स्वयं के परिणाम में जिस प्रकार balance (संतुलन) रहे, वैसे करना। और वैसे समय में 'सत्संग और सत्पुरुष के योग का विशेष विशेष आराधन करना;...' यानि कि सत्संग में विशेषतः रहना, क्या? शायद थोड़ा नुकसान हो जाये बाह्य दृष्टि से, तो भी आकुलित नहीं होना। क्योंकि वह नुकसान कोई आत्मा में पहुँचता नहीं। जिन पर ममत्व है, वैसे संयोगों में नुकसान पहुँचता है और जीव को आकुलता ममत्व के कारण होती है। भय भी ममत्व के कारण ही होता है। जहाँ ममत्व है वहाँ भय हुये बिना रहता ही नहीं, ये नियम है। और जहाँ ममत्व नहीं होता वहाँ निर्भय होता है मनुष्य, क्या? (अतः) विशेष विशेष सत्संग का आराधन करना। 'तो अनुक्रम से अज्ञान की निवृत्ति होगी...' तो आगे जाकर अनुक्रम से यानि आगे जाकर अज्ञान की निवृत्ति अवश्य होगी ही।

'क्योंकि निश्चय जो उपाय है,...' वही उसका निश्चय उपाय है, क्या? ये सत्संग का आराधन करना ही उसका निश्चय उपाय है। 'और जीव को निवृत्त होने की बुद्धि है...' अर्थात् आत्मकल्याण करने

की तो बुद्धि है, अज्ञान को छोड़ने की तो बुद्धि है, 'तो फिर वह अज्ञान निराधार हो जाने पर किस तरह टिक सकता है?' अज्ञान तो तब तक रहता है कि जीव उसे टालने का निर्धार नहीं करता, तब तक।

बहिनश्री के एक वचनामृत में यह बात आती है कि काम करना उतना कठिन नहीं है। अपना आत्मकल्याण करना उतना कठिन नहीं है, परंतु 'जीव करने का निर्धार नहीं करता।' बहुत अच्छे शब्द लिये हैं। क्या? 'जीव निर्धार नहीं करता' ऐसा लेते हैं। इसका अर्थ क्या होता है? कि एकबार निर्धार करे कि मुझे किसी भी कीमत पर यह काम करना ही है, तो यह काम करना सुगम हो जाता है। इस काम के लिये सुगमता खड़ी हो जाती है। जो कुछ तकलीफ है वो स्वयं का निर्धार नहीं हुआ है तब तक सारी उलझन है। एक बार निर्धार करने के पश्चात् उलझन नहीं रहती, क्या?

गुरुदेवश्री के जीवन का दृष्टांत लो। जीवंत दृष्टांत है, गुरुदेवश्री का। उन्होंने छोटी उम्र में अपने पिताजी की छत्रछाया गवाँ दी। बड़े भाई के साथ सातवीं कक्षा तक पढ़ाई की, फिर व्यवसाय में लग गये। पालेज में दुकान पर बैठ गये थे, 13 साल की उम्र से। पहले तो क्या था कि 10-12 साल तक सातवीं कक्षा तक जो पढ़ ले, वह फिर नौकरी या व्यवसाय में लग जाते थे। भागीदारी की दुकान थी तो स्वयं भी दुकान पर बैठ गये। 13 साल की उम्र से बैठ गये थे। 13 से 21 उम्र तक, 7-8 साल दुकान पर बैठे थे। उस वक्त स्वयं ने निर्णय कर लिया। जब वे दुकान पर join हुये, साल दो साल व्यवसाय में कार्य किया, इसके दौरान उन्होंने 15-16 साल की उम्र में निर्णय कर लिया, एक निर्धार कर लिया, क्या? कि मुझे इस जीवन में आत्मकल्याण कर लेना है और मुझे इस व्यापार-धंधा और इस संसार में मुझे रहना नहीं है। उन्होंने ऐसा एक निर्धार कर लिया था। यह एक जीवंत दृष्टांत है। अब उस वक्त उन्हें क्या विचार नहीं आया होगा कि भविष्य में मेरा क्या होगा? मैं जब बीमार हो जाऊँगा तब मेरी सेवा-चाकरी कौन करेगा? मैं कुटुंब से आत्मकल्याण करने के लिये अलग हो जाऊँगा तब मेरा क्या होगा? ऐसा कोई विचार नहीं आया होगा? विचार तो सब आये होंगे। जब तक संयोगों में सुखबुद्धि और आधारबुद्धि हो तब तक उन संयोगों के विचार आये बिना किसी को नहीं रहते। सबको ऐसे विचार आते ही हैं। यह तबक्का (परिस्थिति) आने वाला ही है कि एक बार हिम्मत करनी पड़ेगी। हिम्मत न चले ऐसा एक तबक्का (परिस्थिति) आयेगा तो जरूर, परंतु उस वक्त बलवानरूप से हिम्मतपूर्वक काम लेना चाहिये कि भाई! जो होगा सो होगा, अभी तो मुझे यही करना है। ऐसा जब तक निर्धार नहीं करता तब तक जीव को बहुत आकुलता होती है, तकलीफ होती है, पीछे हटता है, परिणाम में उतार-चढ़ाव आता है, पछाड़ (भी) खा जाये, यह सब बनता है इसके परिणाम में, क्या? और इसमें काल निकल जाता है, समय निकल जाता है, आयुष्य निकल जाता है। परंतु जो बलवान विचारवाले जीव होते हैं, वे निर्धार करते हैं, बलवानरूप से निर्धार करते हैं कि चाहे जो परिस्थिति खड़ी होगी, उस परिस्थिति में देखा जायेगा। पर अभी तो मुझे इसी काम के पीछे लग ही जाना है। वर्तमान मुझे गँवाना नहीं है, भविष्य की चिंता में वर्तमान गँवाना नहीं है, बस। फिर सरल और सुगम हो जाता है। फिर इतना tension नहीं आता, विचारबल के कारण। इसीलिये कहते हैं कि फिर तो अज्ञान निराधार हो जाने पर टिक सकेगा नहीं। अज्ञान का नाश होगा, होगा और अवश्य होगा ही।

‘एक मात्र पूर्वकर्म के योग के सिवाय वहाँ उसे कोई आधार नहीं है।’ क्या? जो प्रवृत्ति करनी पड़ती है वह पूर्वकर्म के योग से करनी पड़ती है। इसके अलावा स्वयं के परिणाम को बिगड़ने में दूसरा कोई आधार नहीं है। ‘वह तो जिस जीव को सत्संग एवं सत्पुरुष का योग हुआ है और पूर्वकर्म निवृत्ति के प्रति प्रयोजन है, उसका (अज्ञान) क्रमशः दूर होना ही योग्य है...’

अब होता क्या है? कि जहाँ इसकी भावना बलवान होती है वहाँ कुदरत को भी बदलना पड़ता है, ऐसा कहते हैं। जैसे ही भावना बलवान हुयी और सत्पुरुष एवं सत्संग का योग प्राप्त होता है तो, भावना और बलवान होती है। बलवानपना आने से पूर्वकर्म की जो निवृत्ति करनी है, वह परिस्थिति आगे चलकर आये बिना नहीं रहेगी। क्रमशः उसे अपनी भावना अनुसार परिस्थिति खड़ी हो जायेगी।

‘इसे क्रमशः दूर होना ही योग्य है, ऐसा विचारकर... वह मुमुक्षुजीव उस अज्ञानजन्य आकुलता-व्याकुलता को धैर्य से सहन करे...’ यानि अज्ञान से जो आकुलता-व्याकुलता होती हो कि ये मेरा अज्ञान क्यों नहीं मिटता है? अभी भी मेरा अज्ञान क्यों मिटता नहीं है? उस वक्त थोड़ा धैर्य से सहन करना, एकदम depression में नहीं आ जाना। धैर्य से सहन करना उसमें क्या है कि इसकी graphical range है, कि उसमें अज्ञान की चिंता ही मत करना ऐसे भी नहीं और अज्ञान मिटता नहीं है इसीलिये depression में आ जाना, वैसे भी नहीं। क्या? जैसे हम खाना खाते हैं तो खुराख पूरा नहीं खाये तो भी काम नहीं चलता और जरूरत से ज्यादा खाने से भी तबियत बिगड़ती है और काम नहीं चलता। तो हमें कुछ निश्चित मर्यादा में आहार लेना पड़ता है। ऐसा नक्की करते हैं न कि इतनी मर्यादा में आहार लेना-वैसे यहाँ भी adjustment है। आचरण का विषय है ये, इसीलिये आपको adjustment करना पड़ता है। कि एकदम धीरज (धैर्य) खोकर depression में भी नहीं आना है और एकदम निश्चित होकर संसार प्रवृत्ति में लग जाना, वैसे भी नहीं करना है। ऐसी बात है, क्या?

इसीलिये (कृपालुदेव) बारबार सत्संग योग का क्यों लेते हैं? पर इसके लिये (उस सत्संग योग में) क्या करना? लीजिये, ऐसा प्रश्न उठता है कि इसमें क्या करना? ये तो गोल-गोल बात हुयी। (समाधान ये है) कि सत्संग योग में स्वयं की व्यक्तिगत रूप से जिस प्रकार की परिस्थिति हो, जिस प्रकार की उलझन हो, जिस प्रकार की अशक्ति हो, विचार में बलवानपना हो चाहे विचार में निर्बलता हो, उन सभी पहलू का अभ्यास करके मार्गदर्शन सत्संग योग में प्राप्त करना चाहिये। कि अभी ऐसे चलना है, अभी ऐसे चलना है, अभी ऐसे चलना है, परिस्थिति को देखते हुये। सत्संग से इतना फर्क पड़ता है, क्या?

मुमुक्षु:- Adjustment आचरण में होता है, अभिप्राय में नहीं होता?

पूज्य भाईश्री:- आचरण में adjustment होता है, अभिप्राय में नहीं। अभिप्राय तो पूरा ही बदल गया। अभिप्राय में तो आत्मकल्याण करने का निर्धार होना ही चाहिये, फिर जो बाह्य परिस्थिति है, उसमें स्वयं के परिणाम कैसे संतुलित रहे, वैसे संतुलन बना रहे, इस प्रकार का adjustment करना सीख लेना चाहिये, न आता हो तो सत्संग योग में इसकी चर्चा करके उस प्रकार से प्रवृत्तना चाहिये।

मुमुक्षु:- Balance रखने के बहाने फिर से वहाँ रुक जायेगा।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, फिर तो पूरा अभिप्राय बदल जायेगा। ऐसा नहीं, कि मेरे परिणाम बिगड़ नहीं जाये इसीलिये मैं ऐसा करता हूँ, ऐसा भी नहीं चलता। इसीलिये वह विषय थोड़ा संकड़ा हो जाता है और इसीलिये सत्संग की जरूरत पड़ती है।

‘इस तरह परमार्थ कहकर परिषह कहा है।’ उसे परमार्थ कहकर यानि वह जो परिषह है, यह आकुलता-व्याकुलता जो होती है, वह परमार्थ है, ऐसा कहकर उसे परिषह कहा है। कि आकुलता-व्याकुलता भी होनी चाहिये, लेकिन आकुलता-व्याकुलता इतनी नहीं होनी चाहिये कि हिम्मत हार जाये और depression में आ जाये और परिणाम बिगड़ जाये, ऐसा भी नहीं होना चाहिये, क्या? ‘इस तरह परमार्थ कहकर परिषह कहा है। यहाँ हमने संक्षेप में उन दोनों परिषहों का स्वरूप लिखा है।’ यह बात हमने बहुत संक्षेप में लिखी है, क्या?

‘ऐसा परिषह का स्वरूप जानकर, सत्संग एवं सत्पुरुष के योग से, जो अज्ञान से आकुलता होती है वह निवृत्त होगी, ऐसा निश्चय रखकर, यथाउदय जानकर, धैर्य रखने का भगवान तीर्थकर ने कहा है...’ ऐसे प्रसंग में भगवान तीर्थकर ने सत्संग की उपासना करने की बात कही है। कि स्वयं को जो कोई भी परिषह आये, उलझन पैदा हो, तो उस उलझन की निवृत्ति सत्संग से ही होगी, ऐसा निश्चय रखना चाहिये। और अभी जो परिस्थिति उदयमान हुयी है, यह मेरे ही किसी पूर्व प्रारब्ध के योग से परिस्थिति निर्माण हुयी है। अतः इस विषय में depression में नहीं आना, इसका नाम धीरज (धैर्य) रखना। Depression में नहीं आना, उसका नाम धीरज रखना। ‘धैर्य रखने का भगवान तीर्थकर ने कहा है; परन्तु वह धैर्य ऐसे अर्थ में कहा नहीं है,’ क्या? ‘परन्तु वह धैर्य ऐसे अर्थ में नहीं कहा है, कि सत्संग एवं सत्पुरुष का योग होने पर प्रमाद हेतु से विलंब करना, वह धैर्य है...’ ऐसा नहीं है। धीरज (धैर्य) रखना इसका नाम ऐसे नहीं है। तो क्या एकदम उपेक्षा कर देना? एकदम उपेक्षा कर देना, वैसा भी नहीं और प्रमाद करना, वैसा भी नहीं। ठीक? एकदम उपेक्षा तब करना कि जब स्वयं में हिम्मत हो, बलवान परिणाम हो, तब तो चाहे कैसे भी कर लो, कोई दिक्कत नहीं है। परन्तु परिणाम लड़खड़ा जाते हो तो इस प्रकार उपेक्षा नहीं करना चाहिये, लेकिन धीरज रखना। तो धैर्य रखने का अर्थ ऐसा नहीं है कि परिणाम बिगड़ते हैं इसीलिये वैसा नहीं करना। मेरे परिणाम बिगड़ जाते हैं इसीलिये ऐसा नहीं करना है, मेरे परिणाम बिगड़ जाते हैं इसीलिये ऐसा नहीं करूँगा, तो तो किसी भी प्रकार से तुम कुछ कर नहीं सकोगे। इसीलिये यहाँ पर मार्ग थोड़ा संकड़ा हो जाता है। और यह मार्ग संकड़ा होने से (इसमें संतुलन कैसे रखना) इसके लिये उसे सत्संग और सत्पुरुष का योग रखना चाहिये और इसमें भी प्रमाद नहीं करना। ‘प्रमाद हेतु से विलंब करना, वह धैर्य है...’ वैसे नहीं, ‘और उदय है, यह बात भी विचारवान जीव को स्मृति में रखना योग्य है।’ इसका स्वयं का ही उदय है, स्वयं का ही किया हुआ उदय है, अपने अपराध से ही यह परिस्थिति पैदा हुयी है, यह बात भी भूलने जैसी नहीं है। स्मृति में रखना यानि भूलने जैसी नहीं है।

मुमुक्षु:- अज्ञान के कारण जो मूँझवण होती है कि ज्ञान के कारण?

पूज्य भाईश्री:- मूँझवण तो अज्ञान के कारण ही होती है न! ज्ञान के कारण कभी मूँझवण कैसे होगी?

मुमक्षु:- अज्ञान के कारण जो अकुलाहट होती है, ऐसा जो लिखा उसे उदय कहते हैं?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, उदय है इसका मतलब क्या है कि कभी उदय के लिये असमाधान रहता हो कि ऐसा क्यों होता है? मेरी तो भावना है फिर भी ऐसा क्यों होता है? मेरी तो भावना है फिर भी ऐसा क्यों होता है? फिर भी उदय है वो उदय है, नहीं हटे वैसा उदय भी हो सकता है। वहाँ प्रमाद भी न रखना, अधीरज भी न रखना और पुरुषार्थ भी नहीं छोड़ना। इस तरह यह सब balance (संतुलन) रखने में सब factors को सम्भालना पड़ता है। अतः सत्संग योग से जीव टिक सकता है। बिना सत्संग तो ऐसी परिस्थिति में टिकना संभवित नहीं दिखता। कहीं न कहीं लड़खड़ा जायेगा। या तो प्रमाद में आ जायेगा, या धीरज खो बैठेगा, या depression में आ जायेगा, क्या? या जल्दबाज़ी में आकर परिणाम बिगाड़ लेगा या तो धैर्य रखने के बहाने प्रमाद करेगा, इस तरह कुछ न कुछ गड़बड़ हो जायेगी।

मुमक्षु:- 324 पृष्ठ पर पत्रांक-330 में यही बात है।

पूज्य भाईश्री:- ‘परमार्थ प्राप्त होने के विषय में किसी भी प्रकार की आकुलता-व्याकुलता रखना या होना, उसे ‘दर्शनपरिषह’ कहा है।’ यानि कि एक ऐसी स्थिति आती है कि स्वयं को अज्ञान मिटाने में सफलता नहीं मिलती तब जीव को आकुलता-व्याकुलता होती है। ‘यह परिषह उत्पन्न हो यह तो सुखकारक है...’ ऐसा तो होना जरूरी है। वैसी आकुलता होनी आवश्यक है। इसी को हम परिभ्रमण की वेदना कहते हैं, तड़पन कहते हैं, अज्ञान न टले इसकी, क्या? यह आकुलता, परिषह उत्पन्न होना, यह तो सुखकारक है। ‘परंतु यदि धैर्य से वह वेदा जाये तो उसमें से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होना संभव होता है।’ धैर्य से वेदा जाये यानि क्या? कि depression में आ जाये तो भी व्यर्थ है और (आकुलता-व्याकुलता) न हो तो भी व्यर्थ है। क्या? अतः धीरज (धैर्य) का अर्थ यहाँ ऐसा है कि उसके परिणाम अमुक, certain graphical range में चलने चाहिये। इस तरफ भी न झुके और उस तरफ भी न झुके, दो में से किसी भी तरफ balance out नहीं होना चाहिये, क्या? इसीलिये वहाँ सत्संग और सत्पुरुष के योग में धैर्य रखना, ऐसी सूचना दी है 537 पत्र में। ‘यदि धैर्य से वेदा जाये तो उसमें से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होना संभव होता है।’

‘आप ‘दर्शनपरिषह’ में किसी भी प्रकार से रहते हैं,...’ देखो। ये 25 वें वर्ष से चल रहा है। कृष्णदास का यह प्रकरण तो २५ वें वर्ष से चल रहा है। ‘ऐसा यदि आपको लगता हो तो वह धैर्य से वेदने योग्य है, ऐसा उपदेश है। आप प्रायः ‘दर्शनपरिषह’ में है, ऐसा हम जानते हैं। किसी भी प्रकार की आकुलता के बिना वैराग्यभावना से, वीतरागभाव से, ज्ञानी में परमभक्तिभाव से सत्शास्त्र आदि का और सत्संग का परिचय करना अभी तो योग्य है।’ यहाँ पर भी उनको यही शिक्षा दी है, क्या?

मुमक्षु:- ऐसी अनाकुलता बहुत अभ्यास बाद ही मिलती है?

पूज्य भाईश्री:- अनाकुलता में तो ऐसा है कि स्थितप्रज्ञदशा आने पर अनाकुलता आती है। इसके पहले एक बार तो दर्शनपरिषद से गुजरना पड़ता है और वह सुखकारक है। ऐसी परिस्थिति आना ये कोई अनुचित नहीं है। सुखकारक है इसका अर्थ क्या है? कि अनुचित नहीं है। ऐसा बनेगा, एक बार तो ऐसा बनेगा, फिर ही उसमें से बाहर निकलना होता है। आगे के paragraph में कृपालुदेव ने इस विषय में बहुत सुंदर master key दी है, कि अब करना क्या?

मुमक्षु:- यानि कि एक बार तो झूरणा (तीव्र वेदना) में आना ही चाहिये?

पूज्य भाईश्री:- आना ही चाहिये, झूरणा में आना ही चाहिये। यदि झूरणा में नहीं आयेगा तो अंतःकरण की शुद्धि ही नहीं होती, क्या? अंतःकरण की शुद्धि नहीं होगी, क्योंकि पूर्व के संस्कार, मलिन संस्कार को ग्रहण करके जीव बैठा है, क्या? और वह परिणति उसे अवरोध करती है। अभी उसकी भावना है कि मुझे ज्ञानप्राप्ति करनी है, इसके लिये सत्संग करे, सत्शास्त्र का वांचन करे, फिर भी काम नहीं होता है यह हकीकत है, बराबर है? Time (समय) निकला जा रहा है, आयुष्य व्यतीत होता जा रहा है, जीवन चला जा रहा है, इसीलिये इसके सामने ऊहापोह होगा कि ऐसा क्यों? मेरा काम नहीं हो रहा है, मुझे तो करना है फिर भी क्यों नहीं हो रहा है? सत्संग में भी जाता हूँ और ये भी है, वह भी है ऐसे करके उसे क्या लगेगा? लेकिन ये जो परिणति बन चुकी है उसका क्या करें? पूर्व में जो स्वयं ने विपरीत परिणाम किये हैं और अभी भी कोई विपरीत अभिप्राय चालू रहे हो, उसकी जो परिणति है वह परिणति उसे आगे नहीं बढ़ने देती। इसीलिये उसे अकुलाहट हुये बिना नहीं रहती। और यह आकुलता हो और जब यह (जीव) झूरणा में आये, तब वह सब पिघलकर बाहर निकलता है। वह रसायन है उसका, पिघालने का वह रसायन है। तब वह पिघलकर निकलता है, वहाँ तक नहीं निकलता, ऐसा है।

स्वयं को शुद्ध होने के लिये, अंतःकरण की शुद्धि के लिये इस परिस्थिति में आना अनिवार्य है। तब तक वह परिणति उसे आगे नहीं बढ़ने देगी और अभिप्राय का विपर्यास नहीं मिटेगा। झूरणा (तीव्र वेदना) में न आये तब तक अभिप्राय का विपर्यास नहीं मिटता।

प्रायः अधिकांश मुमक्षुओं को क्या होता है कि उस परिस्थिति में आये बिना, झूरणा की परिस्थिति में आये बिना ही सत्संग में आना हो जाता है, सत्शास्त्रों का वांचन करने लगता है, और उसमें काफी अभ्यास भी हो जाता है। जब सत्संग और सत्शास्त्रों का वारंवार परिचय होने लगे, तब अच्छा अभ्यास भी हो जाता है। परंतु फिर उलझन खड़ी होती है कि हम आगे क्यों नहीं बढ़ते? परंतु आगे कैसे बढ़ेंगे? उसे जिस क्रम से शुरू होना चाहिये था उस क्रम से तो प्रवेश हुआ नहीं, अर्थात् अंतःकरण की शुद्धि हुयी नहीं। अंतःकरण शुद्ध हुये बिना वह चाहे जितना भी अभ्यास करे, तो भी उसका पुरुषार्थ नहीं चलेगा, ऐसी परिस्थिति है। उसका पुरुषार्थ नहीं चलता...

आगे लेते हैं 'श्री तीर्थकरादि ने बार-बार जीवों को उपदेश दिया है...' क्या? श्री तीर्थकर आदि ने बार-बार उपदेश दिया है अर्थात् बहुत वजन दिया है, ऐसा कहते हैं। इस उपदेश ऊपर तीर्थकरदेव का

वजन बहुत है। 'परंतु जीव दिशामूढ़ रहना चाहता है, वहाँ उपाय नहीं चल सकता।' अतः उसे सही दिशा मिलती नहीं है और नहीं मिलती है, इसकी खोज (भी) नहीं है। वह दिशामूढ़ कब है? कि दिशा सूझती नहीं है इसीलिये दिशामूढ़ हो गया है। बुद्धि कुंठित हो गयी है। दिशा मिलती नहीं है। भीतर में स्वयं के आत्मकल्याण करने के लिये कैसे परिणाम करने चाहिये इसकी दिशा नहीं सूझती। इसीलिये दिशामूढ़ हुआ और ऐसे रहना चाहता है। इसके लिये जो उसे आकुल-व्याकुल होना चाहिये, वह नहीं होता तो इसका अर्थ क्या है? जीव वेदना में और झूरणा में नहीं आता इसका अर्थ क्या है? कि वह दिशामूढ़ रहना चाहता है। दिशामूढ़ तो अनादि से है, परंतु उसमें वह रहना चाहता है, तब तक इसका कोई उपाय नहीं है। तब तक उपाय नहीं चल सकता, ऐसा है लीजिये, बात विचार करने जैसी है।

जीव को अपने कल्याण-अकल्याण की दिशा सूझती नहीं, यही दिशामूढ़ता है। अब इसे टालना हो तब इसकी आकुलता उत्पन्न होती है। और आकुलता उत्पन्न न हो तो समझना कि अभी भी जीव दिशामूढ़ रहना चाहता है और उसे वह छोड़ना नहीं है, ये परिस्थिति छोड़नी नहीं है। 'वहाँ उपाय नहीं चल सकता।' ये जीव की स्वतंत्रता है। उस जीव की वहाँ स्वतंत्रता है और वहाँ कोई उपाय नहीं चल सकता। 'पुनः पुनः ठोक-ठोककर कहा है...' देखो, कितना जोर दिया है तीर्थकरदेव ने पुनः पुनः कहा है। ठोक-ठोककर यानि भार देकर कहा है। बहुत वजन देकर कहा है कि 'एक यह जीव समझ ले तो सहज मोक्ष है...' उसे इतनी समझ आ जाये कि किसी भी कीमत पर मुझे मेरा आत्मकल्याण कर ही लेना है, तो सहज मोक्ष है। 'नहीं तो अनंत उपायों से भी नहीं है।' यह जीव की स्वतंत्रता दिखायी। जीव की यहाँ स्वतंत्रता है। वरना तीर्थकर के समवसरण में हम अनंत बार जाकर आ चुके हैं। दूसरे का दृष्टांत लेने की जरूर नहीं है, हम ही अनंत बार जाकर आये हैं।

वीतराग देव हैं, शंका करने का वहाँ कोई अवकाश भी नहीं है। 34 अतिशय प्रगट हैं और स्वयं भी निर्दोष वीतराग मूर्ति ध्यान के अलावा उन्हें दूसरी कोई प्रवृत्ति है नहीं। निरंतर शुक्ल ध्यान में बिराजमान हैं। फिर भी ये जीव यदि उनका उपदेश अंगीकार न करे तो इसका कोई उपाय तीर्थकरदेव के पास भी नहीं है। यद्यपि वे स्वयं तो वीतराग है परंतु उनका जो समर्थ निमित्तत्व है, बलवान निमित्तत्व है, वह भी जीव की स्वतंत्रता के आगे काम कर दे ऐसा नहीं। निमित्तत्व तो कब कहा जाये? कि जीव उपादान में योग्य होकर आये तब। जब तक जीव स्वयं अंदर से बदलता नहीं, तब तक किसी भी निमित्त का कुछ भी नहीं चलता। ऐसी परिस्थिति है, क्या?

अतः ऐसा कहा कि 'एक यह जीव समझ ले तो सहज मोक्ष है, और नहीं तो अनंत उपायों से भी नहीं है।' कोई भी उपाय करो, अनंत उपाय करो यानि चाहे कोई भी उपाय करें। जीव ने दूसरे-दूसरे अनंत उपाय किये हैं। भीतर से बदलने के सिवाय दूसरे उपाय उसे जो ठीक लगे वे तो किये ही हैं। परंतु ऐसे अनंत उपायों से भी जीव का मोक्ष नहीं होता। क्या?

मुमक्षुः- तीर्थकर जैसा ही निमित्तत्व सत्पुरुष में भी है, इतना ही लाभ हो सकता है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ है, निमित्तत्व एक सा है। लेकिन क्या है कि सत्पुरुष में बाहर से देखने पर शंका हो जाये ऐसी बहुत सी बातें हैं, जबकि वीतराग देव में वह नहीं है। और फिर भी जब ऐसा नहीं हो फिर भी वहाँ जीव सुल्टा न चले तो इसका क्या उपाय? कहिये! इसमें क्या है कि इसका अर्थ ही ऐसा हुआ कि बाह्यदृष्टि का यह विषय नहीं है। बाह्यदृष्टि से देखें तो वीतरागदेव में तो कोई क्षति कही जाये, ऐसा एक percent (प्रतिशत) भी नहीं है। सौ प्रतिशत में से एक प्रतिशत भी ऐसा नहीं है कि बाहर की परिस्थिति में हमें कुछ विचार करना पड़े। परंतु यह बाह्यदृष्टि का विषय नहीं है और जब अंतर दृष्टि का ही विषय है तो अंतर में उन्हें शुक्ल ध्यान वर्तता है और यह सामान्य जीव की capacity (क्षमता) का विषय नहीं है। क्योंकि जितनी दशा ऊँची, उतना अध्यात्मतत्त्व अधिक सूक्ष्म होता है। अतः सत्पुरुष की दशा पहचानने से मुनिदशा को पहचानना मुश्किल है और मुनिदशा को पहचानने से वीतरागदशा को पहचानना ज्यादा मुश्किल है, ऐसे देखा जाये तो। क्योंकि वहाँ (उत्तरोत्तर) परिणाम अधिक सूक्ष्म होते हैं, क्या? अतः ऐसे सूक्ष्म परिणाम को पहचानने के लिये वहाँ तो अधिक से अधिक योग्यता चाहिये। इसीलिये केवलज्ञान आदि दशा ज्ञानी ही पहचान सकते हैं, ऐसा कहा जाता है। मुमुक्षु उसे जल्दी नहीं पहचान सकता, क्योंकि वह अधिक सूक्ष्म दशा है। मुनियों की दशा अधिक सूक्ष्म है, जबकि सत्पुरुष की दशा थोड़ी स्थूल है। इसीलिये मुमुक्षुओं की थोड़ी स्थूलता होने पर भी इनकी कुछ झलक आ सकती है। स्थूलबुद्धि में भी इसकी झलक आती है कि कुछ लगता तो है, कुछ लगता है, जरूर यहाँ कुछ लगता है, ऐसा उसे लगेगा। स्वयं पकड़ सकता है।

...ऊँची चीज हो तो पात्रता भी ऊँची चाहिये। संसार में भी जवाहरात लेने जाये तब 5-25 रुपये लेकर जौहरी की दुकान पर कोई चला जाता है क्या? कि भाई, हमारे जेब में 25 रुपया है और हमें necklace लेना है हीरे का, ऐसे तो नहीं लिया जाता। इसके लिये तो 25 हजार, 50 हजार, लाख रुपया लेकर जाना पड़ता है, ऐसा ही है। कहने का मतलब क्या है कि जब चीज ऊँची है, तो तैयारी भी इसके अनुपात में होनी चाहिये न। सीधी बात है, समझ सके ऐसी है। इसीलिये तो कृपालुदेव ने सत्पुरुष को जितना मुख्य किया है इसका कारण क्या है, कि मुमुक्षु को ज्यादा से ज्यादा chance, निमित्तत्व का अधिक से अधिक chance इस जगह है। एक तो जितने सत्पुरुष हैं उतने तो (सर्वज्ञ) वीतराग होते नहीं। अभी तो 2500 साल से एक भी (वीतराग-सर्वज्ञ) नहीं हुये। वरना जिस काल में वीतराग देवों की उपस्थिति हो, तीर्थंकर विचरते हो, उस काल में भी जितने सत्पुरुष होते हैं उतने वीतरागदेव होते नहीं। अतः इस प्रकार से उनकी उपलब्धि भी कम है। दूसरा ऊँची दशा, तीसरा इतनी ज्यादा वीतरागता है कि जब आप प्रश्न पूछे तब वे जवाब देने के लिये बंधे हुये नहीं है। क्योंकि उन्हें उतना राग नहीं है, जबकि सत्पुरुष को अभी उतना राग है। राग कहना थोड़ा हमें अच्छा नहीं लगता लेकिन ऐसी उनकी एक भूमिका है, कि अगर कोई जिज्ञासु जीव को देखकर तो आधी रात को भी उसे जवाब देते हैं कि “भाई, तू उलझन में है न कोई बात नहीं, थोड़ा इस तरह से तुम्हारा समाधान हो सकता है, ऐसा है”। तो यहाँ इस तरह (सत्पुरुष में) इतनी अनुकूलता है। इसीलिये कृपालुदेव ने इस बात को मुख्य किया है। 213 पत्र में कहा न, कि हे परमात्मा! तू बुरा न मानना हम तेरे से भी अधिक सत्पुरुष की स्तुति करते हैं, तो तू बुरा न मानना।

क्या कहते हैं यहाँ, देखो 'एक यह जीव समझ ले तो सहज मोक्ष है और नहीं तो अनंत उपायों से भी नहीं है। और यह समझना भी कुछ विकट नहीं है...' अर्थात् तीर्थकरदेव अथवा ज्ञानीपुरुष जो कुछ कहना चाहते हैं, वह समझना भी कोई उतना विकट नहीं है। 'क्योंकि जीव का जो सहज स्वरूप है वही मात्र समझना है...' उसे अपना स्वरूप समझना है। कहाँ बात ले गये? Master key कहाँ लगायी है उन्होंने? कि देख भाई, मूल में तो तुझे स्वयं का स्वरूप ही समझना है। जो भी तीर्थकरदेव का वजन है, वह तेरा स्वयं का स्वरूप निजस्वरूप समझने पर ही उन्होंने जोर दिया है। 'जे स्वरूप समज्या विना पाम्यो दुःख अनंत' प्रथम गाथा में प्रथम वचन ही ये लिखा है। आत्मसिद्धिशास्त्र में पहला वचनामृत यही लिखा है, क्या? अब इसमें क्या है कि यह कुटुंब मेरा, ये पिता मेरे, ये पुत्र मेरा, ये फलाना मेरा, ये मेरा, ये घर मेरा, ये संपत्ति मेरी, ये मेरा वह मेरा... बसा यह एक उसे बाधा है, और कोई बाधा नहीं है। जहाँ मेरापना नहीं करना चाहिये, वहाँ मेरापना कर चुका है, उसे छोड़ता नहीं है। उसे छोड़ता नहीं, इसीलिये यहाँ जो निजस्वरूप है वह पकड़ में नहीं आता। अस्तित्व ग्रहण नहीं होता। बस स्पष्ट बात इतनी सी है। पूरे paragraph का संक्षेप इस एक जगह है। क्या? ये बात कोई उतनी कठिन नहीं है कि न हो सके, ऐसी कोई कठिन बात है नहीं। स्वयं का मूल स्वरूप ही समझना है। कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। स्वयं का आत्मस्वरूप किसी पुस्तक में नहीं है कि जहाँ से उसे मिल जाये, क्या? स्वयं को छोड़कर कहीं और नहीं है कि कहीं से भी बाहर से उसे मिल जाये ऐसा कुछ नहीं है। आत्मस्वरूप है वह स्वयं का अंतरंग मूल स्वरूप है। और यही समझना है, इससे अधिक कोई लंबी-चौड़ी बात नहीं है। अब इसमें बाधा क्या है? उस बाधकपने को स्वयं को मिटाना होगा। स्वरूप तो सहज ही है। क्योंकि उपयोग लक्षण से यह आत्मा सदा से स्फुरित है। कैसा है? उपयोग लक्षण से सनातन स्फुरित है और टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव है। मिटा नहीं सके ऐसा, उल्लंघन न कर सके ऐसा। खैर, जीव अज्ञानता में उसका उल्लंघन कर लेता है, यह दूसरी बात है। परंतु उल्लंघन कर नहीं सके ऐसा यह आत्मा है, और इतना ही समझना है, दूसरा कुछ नहीं।

मुमुक्षु:- 'जागता जीव विद्यमान है...' ऐसा पूज्य बहिनश्री कहते हैं।

पूज्य भाईश्री:- 'जागता जीव विद्यमान है, ऐसा कहा है। 'वह जायेगा कहाँ?' नहीं समझ में आकर भी जायेगा कहाँ? क्यों नहीं समझ में आयेगा? जरूर समझ में आयेगा। और जैसे ही एक स्वयं का स्वरूप समझ में आये कि अनंत संसार के परिभ्रमण से छुटकारा हो जायेगा, ऐसी बात है। इसीलिये ऐसा कहते हैं कि यह कुछ विकट नहीं है। यह बात कोई विकट नहीं है।

'क्योंकि जीव का जो सहज स्वरूप है वही मात्र समझना है; और वह कोई किसी दूसरे के स्वरूप की बात नहीं है कि कदाचित् वह छिपा ले या न बताये या न पता लगे...' दूसरे की बात हो जब तो किसी के छिपाने से मालूम न पड़े। गुप्त बात हो तो हमें मालूम न पड़े लेकिन यह तो स्वयं के स्वरूप की बात है। इसमें कोई छिपायी जाये ऐसी कोई बात है नहीं कि जिसके कारण समझने में न आये। ऐसी बात नहीं है कि न समझ सके, ऐसा नहीं है। अशक्य नहीं है, बिल्कुल भी अशक्य नहीं है, विकट भी नहीं है,

क्या? अनंतकाल बिता दिया, समझे बिना हमारे जीव ने अनंतकाल बिता दिया फिर भी ज्ञानी सरल करके देते हैं कि 'तू घबरा मत!' सरल, सुगम करके बताते हैं, कि 'तू घबरा मत, देख हो सकता है, ऐसा है। हमने जो किया है और तू भी कर सकता है ऐसा है।'

छः पद के पत्र में (पत्रांक-493) में लिया न, कि जिनके वचन के विचारयोग से सहज मात्र में प्रगट हो ऐसा आत्मस्वरूप है। सत्पुरुषों को नमस्कार किये हैं न, वहाँ यह बात ली है।

(यहाँ) क्या कहते हैं? 'स्वयं, स्वयं से गुप्त रहना किस तरह हो सकता है?' स्वयं ही स्वयं से गुप्त रहे यह कैसे बन सकता है? ऐसा कहते हैं। ऐसा तो बनने योग्य दिखता नहीं। 'परंतु स्वप्नदशा में जैसे न होने योग्य ऐसी अपनी मृत्यु भी जीव देखता है...' क्या? स्वप्नदशा में जैसे न बनने योग्य ऐसा स्वयं की मृत्यु भी जीव देखता है। ऐसे, 'परंतु' कहकर बात ली है। सरल है, सुगम है, विकट नहीं है 'परंतु' क्या किया है? कि 'स्वप्नदशा में जैसे न होने योग्य ऐसी स्वयं की मृत्यु को भी जीव देखता है,...' क्योंकि जागते में तो अपनी मृत्यु देखने के लिये कोई खड़ा रह नहीं सकता। वह तो कहीं और चला जाता है। अपने प्रारब्ध को भोगने के लिये, कर्म को भोगने के लिये कहाँ से कहाँ उत्पन्न हो जाता है। यहाँ अंतिम क्रिया चलती हो उसे मरने वाला स्वयं देखने के लिये नहीं रह सकता। उसे तो कुछ खबर ही नहीं होती। फिर भी स्वप्न में वह सब देख सकता है, कितनी विचित्र बात है। स्वप्न में उसे सब दिख सकता है कि देखो ऐसा हुआ, फिर ऐसा हुआ... मेरा ऐसा हुआ... मैं मर गया, फिर मुझे ऐसा किया, फिर मुझे ऐसा किया। जैसे कि वहाँ खड़ा-खड़ा सब देखता हो ना। इस तरह उसे प्रेक्षक की तरह पूरा नाटक दिखता है। परंतु (वास्तविकता में) यह बन सके, ऐसा नहीं है।

'वैसे ही अज्ञानदशारूप स्वप्नरूप योग से...' यानि कि जैसे वह स्वप्न है, ऐसा ही ये भी स्वप्न है, ऐसा कहते हैं। जिसे तुम तेरा-मेरा करते हो, वह स्वप्न के अलावा दूसरा कुछ नहीं है। एक स्वप्न जैसे आया और पूरा हो गया। आत्मा कोरा का कोरा रह जायेगा। वैसा ही होने वाला है और कुछ नहीं होगा। तू आया, 5-25-100 साल ये सब पूरा किया, वापिस अकेला आया है और अकेला चला जायेगा। एक स्वप्न पूरा हो गया! ये भवरूपी स्वप्न पूरा हो जायेगा।

'वैसे ही अज्ञानदशारूप स्वप्नरूप योग से यह जीव स्वयं को, जो अपने नहीं हैं ऐसे दूसरे द्रव्यों के विषय में निजरूप मानता है...' क्या करता है? अपने को निजरूप मानता है, कहाँ निजरूप मानता है? दूसरे पदार्थों में मेरापना मानता है। ये 'परंतु' तिहत्तर मन वजन का (बहुत भारी) है। ये 'परंतु' बहुत बड़ा है। यहाँ से हटना बहुत मुश्किल है। पूरी जिंदगी घूँट-घूँट कर ममत्व किया हो, उसे छोड़ना है।

एक बच्चा जन्म लेता है तब से उसमें रस लेता है। जन्म के पहले से ही रस लेने लगता है कि हमारे यहाँ अभी इतने समय बाद बालक आयेगा। फिर उसका जन्म हो तब से ये मेरा... ये मेरा... ये मेरा... इतना रस... रस, इतनी मिठास... मिठास... मिठास लेता है। और ये संस्कार अनादि से चालू है। ऐसे संस्कार जीव के अनादि से चालू हैं। यहाँ (इस भव में) फिर से उसे दृढ़ करता है। पुनः पुनः दृढ़

(करता है)। तिर्यच में जाये तो भी स्वयं के बच्चे को कैसे सम्भालता है, चिड़िया भी अपने बच्चे को सम्भालती है। उसे कहीं से दाना लाकर खिलाती है क्योंकि वैसे संस्कार है। ये मेरे हैं, ऐसा उसे भी (संस्कार है)। यहाँ थोड़ी बुद्धि विशेष है, तो विशेष रस लेता है। वहाँ बुद्धि कम है इसीलिये कम रस लेता है। यहाँ बुद्धि विशेष होने से ज्यादा रस लेता है। जब क्षयोपशम अधिक हो, लेकिन दिशा उल्टी हो तब उसका परिणाम भी ज्यादा खराब आता है। क्या? ये उसका नियम है। बुद्धिवालों को ज्यादा जोखिम है। अगर सही रास्ता नहीं पकड़े और उल्टे रास्ते पर गया तो वहाँ भी इतना ही ज्यादा दूर चला जायेगा। ज्यादा विपरीत जाने में देर नहीं लगती, ऐसा है। अवधिज्ञान में ऐसा ही होता है न, देव-नारकी को जो कुअवधिज्ञान होता है, तो वो ज्यादा से ज्यादा तीव्र कर्म बांधते हैं। कुअवधि के कारण ज्यादा से ज्यादा तीव्र कर्म बांधते हैं। क्योंकि ज्ञान का उघाड़ बढ़ा लेकिन दिशा उल्टी, मिथ्यात्वदशा (है), इसीलिये ऐसा कहते हैं।

मुमक्षु:- जोखिम कितना? कि सत्पुरुष छुड़ाना चाहे तो भी छूटता नहीं है।

पूज्य भाईश्री:- सत्पुरुष तो क्या तीर्थकर छुड़ाना चाहे तो भी छोड़ते नहीं। ये उपदेश तो तीर्थकर ने ही दिया है, ऐसा कहा है और भारपूर्वक कहा है। पुनः पुनः कहा है, बहुत जोर देकर कहा है, फिर भी ये जीव नहीं छोड़ता। कि 'नहीं, ये तो मेरे हैं' यह बात आयेगी तो कहेगा कि 'नहीं, ये तो मेरे हैं'। ये जो मेरापना भासित होता है, अपनत्व इसमें जो भासित होता है यह जीव को कहाँ से कहाँ ले जाता है।

मुमक्षु:- जो दिशामूढ़ रहना चाहता है तो उसमें भावना की कमी है या मूल्यांकन कम है?

पूज्य भाईश्री:- दिशामूढ़ रहना चाहता है इसमें अंतःकरण से, प्रमाणिकता से उसे छूटना नहीं है।

मुमक्षु:- अभिप्राय की भूल हुयी?

पूज्यभाईश्री:- हाँ, अभिप्राय की भूल है। अभिप्राय की भूल है, (उसके मन में ऐसा होता है) कि मुझे आत्मकल्याण करना है लेकिन मेरी मर्जी से, अमुक पद्धति से। कि आप ऐसा कहेंगे कि यहाँ ममत्व छोड़ दो, ये ममत्व नहीं छोड़ रहे हो आप। जैसे यहाँ परिवार का दृष्टांत आता है। अभी परिवार का दृष्टांत लेंगे, तो अगर कहे कि 'परिवार का ममत्व छोड़ दो', तो कहेगा कि 'क्या उसे रखकर नहीं हो सकता? इसमें क्या गलत है? मेरा बेटा है तो मुझे उस पर प्रीति नहीं होगी क्या? मेरा बेटा है तो उस पर मुझे प्रीति नहीं होगी? मेरे माँ-बाप हैं तो मुझे उन पर प्रीति नहीं होगी? क्या? ये होना तो स्वाभाविक है। उसे आप क्यों छोड़ाते हो? इसे रखकर करो न आप! रखकर नहीं हो सकता? इसमें क्या दिक्कत आ गयी? लेकिन भाई तूने जो वहाँ मेरापना स्थापित किया है वह तुझे तेरे आत्मा में मेरापना स्थापित करने नहीं देगा। क्योंकि दो जगह (अपनत्व नहीं हो सकता) एक स्व है और एक पर है। स्वपर प्रतिपक्ष में है। क्या? यहाँ भी स्वपना रखना है (अर्थात्) पर में भी स्वपना रखना है और स्व में भी स्वपना करना है, ये नहीं हो सकता। करना होगा तो भी नहीं हो सकेगा। फिर भी करना है... करना है... (कहेगा तो) वह सब झूठ है। उसे वास्तव में करना नहीं है, ऐसा है।

क्या कहते हैं? कि 'अज्ञानदशारूप स्वप्नरूप योग से यह जीव अपने को, जो अपने नहीं हैं ऐसे दूसरे द्रव्यों के विषय में निजरूप मानता है; और यही मान्यता संसार है...' ये मान्यता ही संसार है। यानि कि जीव को संसरण कराती है, स्वरूप में आने देती नहीं। 'यही अज्ञान है और नरकादि गति का हेतु भी यही है...' नरक में जाने का, अधोगति में जाने का भी यही कारण है। लेकिन इसमें ऐसा कौन सा बड़ा अपराध कर दिया? सिर्फ कुटुंब-परिवार को स्वप्ने देखा, और दूसरा कुछ नहीं किया। स्वप्ने से देखा कि ये मेरे हैं। इसमें क्या अपराध हुआ? तो कहते हैं कि तेरा अस्तित्व गवाँया। क्या किया? क्या हुआ? तेरा अस्तित्व गवाँ दिया। पर मैं अस्तित्व स्थापित करके निज अस्तित्व को खो दिया।

ये जो अज्ञान है, मिथ्यात्व है, वह अठारह पापस्थानक से बड़ा पाप है, यह बात समझ में आनी चाहिये। तो (अपनत्व) छोड़ सकेगा, वरना नहीं छोड़ सकेगा। नहीं तो छोटे-मोटे पाप को मुख्य करेगा और ये (मिथ्यात्व) वैसा का वैसा कायम रखेगा। जीव धर्म के क्षेत्र में आकर ये भूल करता है। दूसरे छोटे-मोटे पाप को मुख्य कर लेता है और ये अज्ञान-मिथ्यात्व के पाप को वैसा का वैसा intact रखता है। उस पर ध्यान नहीं जाता। तीर्थकरदेव ने जिस पर जोर दिया है, उस पर स्वयं का जोर नहीं है, अन्यथा जोर चला जाता है। Weightage बदला कि पूरा मार्ग बदल गया। विशेष बात है। (वह कल के स्वाध्याय में लेंगे, समय समाप्त हुआ है।)

प्रवचन-9, दि. 11-08-1996

पत्रांक-537 (3), भावनगर

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्र-537 चल रहा है। पृष्ठ-436, जीव को अपना स्वरूप समझने पर निर्वाणपद की प्राप्ति होगी। यदि अपने स्वरूप का ज्ञान हो, निर्मल स्वरूप का अगर ज्ञान हो, तो जीव को निर्वाणपद की प्राप्ति होगी। यहाँ कृपालुदेव ऐसा कहते हैं कि भाई, तेरा स्वरूप तुझे समझना है इसमें कोई विकट बात तो नहीं है, कोई बड़ी बात तो नहीं है। अपना स्वरूप समझना है, यह कोई नहीं बन सके या अशक्य है ऐसी बात तो नहीं है। परंतु अनंतकाल से स्वयं के स्वरूप को नहीं समझा, यह एक हकीकत भी है। जब ऐसी परिस्थिति रही है तो इतना ही बलवान (अवरोधक) कारण भी मौजूद रहा है कि जीव स्वयं के स्वरूप को समझा नहीं है। वह कारण कौन सा रहा है, उसके ऊपर कृपालुदेव ने यहाँ प्रकाश डाला है।

क्या लिखते हैं? कि 'परंतु स्वप्नदशा में जैसे न होने योग्य ऐसी अपनी मृत्यु को भी जीव देखता है...' यानि कि ऐसा मिथ्या देखता है, उल्टा देखता है। वैसे तो कोई अपनी मृत्यु देख नहीं सकता परंतु स्वप्न में ऐसा दिखता है। यह दृष्टांत है, 'वैसे ही अज्ञानदशारूप स्वप्नरूप योग से...' वैसे ही अज्ञानदशा भी एक स्वप्न है। क्या है? अज्ञानदशा है, यह भी एक स्वप्न जैसी है। कैसा स्वप्न है? कि 'यह जीव अपने को, जो अपने नहीं हैं ऐसे दूसरे द्रव्यों के विषय में निजरूप मानता है...' क्या करता है जीव, अज्ञानदशा में? कि जहाँ स्वयं नहीं है, स्वयं का अस्तित्व नहीं है, स्वयं की चीज नहीं है (वहाँ स्वपना मानता है), जगत के स्वतंत्र द्रव्य हैं। जीव हो चाहे परमाणु हो, या दोनों की मिश्र अवस्था रूप कोई द्रव्य हो। कोई मनुष्य हो, लेकिन वह कोई आत्मा का स्वयं का स्वरूप तो नहीं है, फिर भी जीव उसमें अपनत्व करता है, इतनी भूल है। कहाँ भूल है? इतनी भूल है कि जो अपना स्वरूप नहीं है, जहाँ स्वयं का अस्तित्व नहीं है (वहाँ अपनत्व करता है)। प्रारब्धयोग से संयोग हुआ है और संसार के व्यवहार से कोई न कोई संबंध गिनने में आता है। किसी वक्त पिता-पुत्र का संबंध गिनने में आता है, या पति-पत्नी का संबंध गिनने में आता है, या भाई-बहन का संबंध गिनने में आता है, या भाई-भाई का संबंध गिनने में आता है। ऐसा कोई न कोई संबंध गिनने में आता है। जीव को उसमें ये मेरा है, ये मेरा फलाना है... ये मेरे फलाने हैं... ऐसा जो लगता है, वह जीव का अज्ञान है और वह जीव का स्वप्न है। स्वप्न इसीलिये कहा, क्योंकि ऐसे अनंत कुटुंब छोड़कर, अपनत्व कर कर उसे छोड़कर आया है। अभी वह कुटुम्ब तेरे सामने आये तो तुझे अपनत्व का बिल्कुल भी भाव नहीं आयेगा। क्योंकि वह प्रारब्ध पूरा हो गया। वह उदय पूरा हो गया इसीलिये उदयभाव भी तेरा समाप्त हो गया। तो अभी जो तू कर रहा है, यह तुझे तेरा स्वरूप नहीं समझने में बहुत बड़ा (बाधक) कारण है। स्वरूप समझने में प्रतिबंध हो, आवरण आये और स्वरूप नहीं समझ आये ऐसा बहुत बड़ा यह कारण है। ऐसा यहाँ समझाना है, क्या?

कि ऐसी जो मान्यता है, ऐसा जो मानते हैं, '...और यह मान्यता ही संसार है...' उसमें से पूरा संसार खड़ा होता है अथवा पनपता है। पूरा संसार इसमें से पनपता है। 'यही अज्ञान है...' और यह एक

बड़ा अज्ञान है। सामान्य अज्ञान नहीं परंतु बड़ा अज्ञान है। ‘...नरकादि गति का हेतु यही है...’ जीव नरक में जाता है, निगोद में जाता है। ‘आदि’ शब्द में तिर्यच और नरक दो गति बहुत बड़ी हैं। उनमें जीव बहुत दुःख पाता है। वैसे तो चारों गति में दुःख ही पाता है परंतु नरक, निगोद में सबसे अधिक दुःख पाता है। ‘...नरकादि गति का हेतु यही है,...’ ऐसा जो अपनत्व करना, फिर भले ही वह कुटुम्ब-परिवार हो या चाहे प्रारब्ध के कोई भी संयोग हो, क्या? उसमें अपनत्व करना (वह अज्ञान है)। फिर मित्र-शत्रुपना करना (किसी से) वह भी एक ऐसा ही है।

किसी भी प्रकार के संबंध की कल्पना करके उसमें वास्तविकता का अनुभव करना कि यह ऐसा ही है, वह जीव का अज्ञान है और दुर्गति का हेतु है। ‘यही जन्म है और मरण है...’ यही जन्म-मरण का भी कारण होता है। ‘और यही देह है और देह का विकार है...’ (अतः) इसी से जीव नया देह धारण करता है और नये-नये रोग भी धारण करता है। देखो, देहविकार यानि रोग। आत्मा को भी (मिथ्यात्व का) रोग होता है और शरीर को भी रोग होता है और देह का आवागमन, जन्म-मरण भी होता है। सभी प्रकार के अनिष्ट-दुःखदायक प्रसंग प्राप्त होते हैं।

‘यही पुत्र है, यही पिता...’ ये पुत्र-पितादि भाव जो स्वयं की कल्पना में आता है, वह भी जीव का अज्ञान है, क्या? वह भी जीव का अज्ञान है। इस जीव को किसी के प्रति पुत्रत्व की मान्यता करने जैसा नहीं है। पुत्रत्व मानकर या कुछ भी संबंध मानकर, जितनी भी अधिकार बुद्धि आती है, वह अधिकार बुद्धि जीव को अज्ञानरूप है। और यही जीव को अनेक प्रकार के जन्म-मरण और दुःख का कारण होता है। समस्त संसार का कारण यही है।

‘यही शत्रु और यही मित्रादि भावकल्पना का हेतु है;...’ शत्रु-मित्र भी नहीं। दूसरे सगे-संबंध तो नहीं परंतु शत्रु-मित्र की कल्पना भी करने जैसी नहीं है। ‘वह भावकल्पना का हेतु है;...’ ये सभी प्रकार हैं, वे सभी कल्पना के कारण हैं और कुछ नहीं है। जो भी प्रकार प्रारब्धयोग से प्राप्त हुआ है वह कल्पना का कारण है। उस कल्पना की निवृत्ति कर देना, नाश कर देना। ‘और जहाँ उसकी निवृत्ति हुयी वहाँ सहज मोक्ष है...’। देखो, निवृत्ति हुयी वहाँ सहज ही मोक्ष है, क्या? सहज मात्र में मोक्ष है, ऐसा कहते हैं। ये कल्पनाएँ छोड़ दी, इसीलिये कल्पना है वही बंधन है और कल्पना छोड़ दी तो मोक्ष है। इस तरह बात है देखो, हम इस बात पर विचार करें।

कि अभी जो आत्माएँ मोक्ष में बिराजमान है। अनेक तीर्थकर और अनेक दूसरे धर्मात्मा सिद्धालय को प्राप्त हो गये। वहाँ बिराजमान है, उन्हें कौन सा संसार संबंध है कहिये तो? भूत नैगमनय से ऐसा कहा जाता है कि महावीर भगवान त्रिशला रानी के पुत्र थे, बराबर? सिद्धार्थ महाराजा-त्रिशला रानी के पुत्र थे। लेकिन वास्तव में कोई संबंध है क्या? उन आत्माओं का भी मोक्ष हो गया। इनके माँ-बाप भी मोक्षगामी होते हैं। तीर्थकर के माँ-बाप भी मोक्षगामी होते हैं। उनका भी मोक्ष हो गया। वे भी सिद्धालय में समकोटि में बिराजमान हैं। ‘णमो सिद्धाणं’ में सभी आ गये कि नहीं आये? इसमें ये माता है, ऐसा है? ये पिता है, ऐसा है? ये पुत्र है, ऐसा है? ऐसा कुछ नहीं है। सभी आत्माएँ, क्या? सभी एक समान सिद्ध

हैं। सब सिद्धपद में बिराजमान हैं। किसी को कोई संसारी संबंध नहीं है। तो यह जो संसार संबंध था, वह सिर्फ प्रारब्धयोग से, व्यवहार से कहने मात्र था। वास्तव में किसी आत्मा में कोई ऐसा संबंध, दो आत्माओं के बीच में होता नहीं।

‘जहाँ उसकी निवृत्ति हुयी...’ यानि उस कल्पना की निवृत्ति हुयी ‘...वहाँ सहज मोक्ष है; और इसी निवृत्ति के लिये...’ अर्थात् ऐसी कल्पना का नाश कराने के लिये, क्या? उस प्रकार की कल्पना का, भावकल्पना का नाश कराने के लिये ही, ‘...सत्संग और सत्पुरुष आदि साधन कहे हैं...’ सत्संग और स्वाध्याय किस लिये हैं? कि ऐसी कल्पना का नाश हो जाये। किसी के भी साथ जो कोई व्यवहार संबंध कहा जाता है, उसे व्यवहार की मर्यादा में रखना। व्यवहार की मर्यादा रखना लेकिन इसे सच्चा मान लेना नहीं। अगर सच्चा मान ले तो अधिकार बुद्धि आये बिना रहेगी नहीं और अधिकार बुद्धि जहाँ आये वहाँ जीव को कषाय हुये बिना रहेगा नहीं।

इस तरह सत्संग और सत्पुरुष आदि साधन ऐसी कल्पना का नाश करने के लिये कहे हैं। ‘और वे साधन भी, जीव यदि अपने पुरुषार्थ को छिपाये बिना उनमें लगाये, तभी सिद्ध है।’ सिद्ध है अर्थात् इसकी सिद्धि है, इसकी सफलता है। सिद्ध है यानि इसकी सफलता कब है? कि जीव सत्संग और सत्पुरुष के योग में स्वयं पुरुषार्थ करे तब। पुरुषार्थ न करे तो फिर वह सत्संग ज्यों का त्यों रह जायेगा और स्वयं वापिस घर में वैसा का वैसा प्रवर्तन करने लगेगा। जैसे कि हम, अपना ही दृष्टान्त लें कि यहाँ तो हम स्वाध्याय करते हैं। और ज्ञानीपुरुष जो कहते हैं उनके वचनमृतों को हम भाव से सुनते हैं। लेकिन अगर घर जाकर उतना का उतना ही अपनत्व करेंगे तो क्या होगा? कि यहाँ पर जो सुना उस संबंधित कोई पुरुषार्थ नहीं किया और वापिस प्रतिबंध ज्यों का त्यों चालू रखा। पहले प्रतिबंध तो था ही। परिवार में, कुटुंब में अपनत्व का प्रतिबंध तो था ही, उसे घर जाकर फिर से चालू कर दिया और चालू ही रखा। तो ज्ञानीपुरुष की आज्ञा का उल्लंघन हुआ अथवा उस आज्ञा का स्वीकार नहीं किया, ऐसा स्पष्ट हुआ कि नहीं हुआ? अतः वैसा साधन भी यदि जीव उसमें अपना पुरुषार्थ छिपाये बिना उसमें लगाये तो ही वह साधन सफल है। सिद्ध है यानि सफल है, नहीं तो उन साधनों का कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि फिर तो दूसरे सभी संसारी जीव भी अपने कुटुंब-परिवार में अपनत्व करते ही हैं और यहाँ जो ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि ‘नहीं, यह कल्पना तू छोड़ दे’ फिर भी वह (अपनत्व) ऐसा का ऐसा करता है तो उसमें और दूसरे (संसारियों) में क्या फर्क रहा? कि कोई फर्क न पड़ा और जो चार गति के दुःख, फिर ऐसे के ऐसे खड़े रह जायेंगे।

मुमुक्षु:- भाईश्री, पत्र-528 लीजिये ना।

पूज्यभाईश्री:- पृष्ठ-423, आखरी paragraph, ‘आत्महित के लिये सत्संग जैसा बलवान अन्य कोई निमित्त प्रतीत नहीं होता...’ क्या? वैसे तो निमित्त में अनेक प्रकार के धर्म के साधन और धर्म की क्रियाएँ गिनी जाती हैं, परंतु सत्संग जैसा कोई बलवान साधन प्रतीत नहीं होता। ‘फिर भी वह सत्संग भी जो जीव लौकिकभाव से अवकाश नहीं लेता, उसके लिये प्रायः निष्फल होता है...’ सत्संग किसका

निष्फल जाता है? जिसे लौकिकभाव (होता है उसका) लौकिकभाव यानि क्या? कि जो लोगों के लौकिक संबंध हैं, उनके जो भाव हैं, उन्हें यूँ का यूँ बनाये रखें, उनमें कोई दूसरा फेरफार करने का विचार नहीं करे तो उस सत्संग का कोई अर्थ नहीं रहता। क्या? फिर तो वह सत्संग निरर्थक है। ‘और सत्संग कुछ फलवान हुआ हो, तो...’ मतलब क्या? कि थोड़ी-बहुत आत्मा में असर आयी हो, ज्ञानी के वचनों की थोड़ी-बहुत असर आत्मा पर आयी हो, ऐसा भी बनता है न? बिल्कुल असर नहीं आये, ऐसा नहीं बनता। भाव से सुनने आये तो थोड़ी-बहुत असर भी आती है, क्या? ‘...तो भी यदि लोकावेश विशेष-विशेष रहता हो...’ फिर भी यदि लौकिकभाव बलवान रहता हो तो, इसकी (सत्संग के असर की) अपेक्षा। क्या कहा? कि सत्संग के भाव भी हैं और उदयभाव भी हैं। लौकिकभाव यानि क्या है? उदयभाव भी हैं। अगर उदयभावों का बल जो ज्यादा रहे और सत्संग में जो परिणाम होते हैं उसका बल यदि कम रहे तो ‘...उस फल के निर्मूल हो जाने में देर लगती नहीं...’ तो जो (सत्संग में) सुना है उसे भूलने में बिल्कुल देर लगती नहीं।

‘और स्त्री, पुत्र, आरंभ-परिग्रह के प्रसंग में से यदि निजबुद्धि छोड़ने का प्रयास न किया जाये तो सत्संग के सफल होने का संभव कैसे हो?’ देखिये, कितने-कितने पत्रों में ध्यान खींचा है। बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखा है, कि घर जाये तो वहाँ स्त्री, पुत्र होते हैं, दुकान पर जाये तो वहाँ आरंभ-परिग्रह होता है, और इन सभी प्रसंगों में, इनसे संबंधित उदय प्रसंगों में निजबुद्धि (अर्थात्) ये मेरे हैं... ये मेरे हैं... ये मेरे हैं... (ऐसा चालू रखे तो सत्संग फलवान नहीं होता)। वास्तव में तो यहाँ से जाने के बाद यहाँ जो सुना है, वह सुनी हुयी बात का प्रयोग करने का अवसर तो घर में है। घर पहुँचने के बाद या दुकान पहुँचने पर, जो सुना है उसे सफल करने के लिये प्रयोग करने का वहाँ प्रसंग है। इसके बजाय यहाँ की बात पूरी यहाँ पर ही छोड़ दे और वहाँ पहले जैसे था, वैसे की वैसे निजबुद्धि से प्रवृत्ति चालू रखे, तो वह ‘सत्संग के फलवान होने का संभव कैसे हो?’ ऐसा प्रश्न पूछते हैं। कि कभी भी वह सत्संग सफल नहीं होगा, फिर भले ही वह सारी जिंदगी सत्संग करता रहे, तो भी वह सत्संग बिल्कुल सफल नहीं होगा। बहुत साफ और स्पष्ट बात कर दी है।

अतः अब क्या है कि भाई, हम सत्संग में बैठते हैं तो जब सत्संग में मिलना हो तब इसकी चर्चा करनी चाहिये कि भाई, आज हमने ये सुना तो सही, लेकिन घर जाने के पश्चात् परिणाम कैसे रहे? बेटे-बेटी को देखते वक्त परिणाम कैसे रहे? पति-पत्नी को देखकर परिणाम कैसे रहे? माँ-बाप को देखकर परिणाम कैसे रहे? दुकान जाकर व्यवसाय करते हुये परिणाम कैसे रहे? क्या? अगर इस बात की जाँच नहीं की तो फिर इसका विचार ही नहीं रहेगा कोई और इसका प्रयोग भी नहीं होगा। जो प्रयोग करेगा वह चर्चा करेगा कि मैं तो प्रयोग में fail जाता हूँ (या तो) प्रयोग में सफल होता हूँ। निष्फल जाता हूँ तो क्यों जाता हूँ? क्यों मुझे ऐसा होता है? मेरा अभिप्राय अभी भी क्यों बदलता नहीं है? कैसे परिणाम रहते हैं कि जिसके कारण मेरा अभिप्राय बदलता नहीं है? अभिप्राय नहीं बदला तो परिणाम चालू रहने की पूरी शक्यता है। अभिप्राय विरुद्ध भी यदि परिणाम हो जाते हैं, तो अभिप्राय है उसको तो छूटने का अवसर ही नहीं आता। उसके परिणाम तो अभिप्राय के अनुसार ही चलेंगे, चलेंगे और (अवश्य) चलेंगे।

‘जिन प्रसंगों में महाज्ञानीपुरुष संभल संभलकर चलते हैं...’ स्वयं भी 27-28 वर्ष में यह पत्र लिख रहे हैं। तब वे स्वयं भी कुटुम्ब-परिवार और व्यापार-धंधे के बीच में रहकर लिख रहे हैं कि हमें भी संभलकर चलना पड़ता है। हमें भी ऐसे प्रसंगों में संभलकर चलना पड़ता है। ‘जिस प्रसंग में महाज्ञानीपुरुष संभल-संभलकर चलते हैं, उसमें इस जीव को तो...’ इस जीव को यानि सामान्य मुमुक्षुजीव को तो ‘...अत्यंत अत्यंत सावधानी से, संकोचपूर्वक चलना...’ (अर्थात्) बहुत दरकारपूर्वक, बहुत जागृति रखकर चलना (चाहिये), ‘यह बात भूलने जैसी ही नहीं है...’ यह बात भूलने जैसी नहीं है। ‘...ऐसा निश्चय करके...’ देखो, ऐसा निर्धार करके निर्धार करना यह हर एक जगह मुख्य बात है। कोई भी काम करना हो तो उसका यथार्थ और दृढ़ निर्धार पहले हो जाना चाहिये। तो आधा काम इसी में हो जाता है। वहाँ जो शुरुआत हुयी, ‘well begin is half done’, आधा काम तो वहीं हो गया। जब शुरुआत अच्छी हुयी वहीं आधा काम तो हो गया।

‘...ऐसा निश्चय करके प्रसंग-प्रसंग में, कार्य-कार्य में और परिणाम-परिणाम में उसका ध्यान रखकर उससे छूटा जाये, वैसे ही करते रहना...’ अर्थात् इससे भिन्न हो ऐसा करते रहना। यह प्रयास, इस प्रकार का पुरुषार्थ, जो सत्संग की आराधना करता है उस जीव को अवश्य-अवश्य होना चाहिये। अगर इस प्रकार का प्रयास नहीं होगा तो यह सत्संग बिल्कुल सफल होने वाला नहीं है। और पूरी मेहनत और पूरा समय बेकार जायेगा, व्यर्थ चला जायेगा, ये बात भूलने जैसी नहीं है। ‘यह हमने श्रीवर्धमानस्वामी की छद्मस्थ मुनिचर्या के दृष्टांत से कहा था।’ कृपालुदेव ने प्रत्यक्षता में कोई चर्चा की होगी तब वर्धमानस्वामी की छद्मस्थ मुनिचर्या का कोई दृष्टांत देकर, ये मुमुक्षुदशा का सिद्धांत समझाया होगा। मुनिदशा का दृष्टांत देकर मुमुक्षुदशा का सिद्धांत समझाया होगा। देखिये, समझाने की कैसी-कैसी पद्धति होती है।

जैसे समयसारजी की 143वीं गाथा में ज्ञानी की पक्षातिक्रांत की निर्विकल्पदशा की समझ देने के लिये केवली का दृष्टांत दिया। अमृतचंद्राचार्यदेव ने केवलज्ञानी का दृष्टांत लिया! केवली के दृष्टांत से ज्ञानी की दशा समझायी है कि जैसे केवली है न, वैसे ज्ञानी हैं एक न्याय से। एक न्याय से जैसे केवली हैं वैसे ही ज्ञानी हैं। और वहाँ वे परमात्मा है, ऐसा शब्द का आखिर में उपयोग किया है, 143 गाथा की टीका में। स्वयं आचार्य होकर भी ज्ञानी का इतना बहुमान किया है। क्या? वैसे ही यहाँ भी कृपालुदेव ने श्रीवर्धमानस्वामी की छद्मस्थ मुनिचर्या के दृष्टांत से हमने कहा था (ऐसा कहते हैं) कि जैसे मुनि भी कोई संबंध नहीं रखते, दीक्षा लेने के पश्चात् उन्हें कोई व्यवहार संबंध होता नहीं। व्यवहार संबंध भी होता नहीं और व्यवहार संबंधित परिणाम या कल्पना भी उन्हें रहती नहीं।

जैसे कि कोई मुनि हो गये। मुनि हो गये ऐसा कोई दृष्टांत लिया होगा हम ऐसा अनुमान करें कि वर्धमानस्वामी महावीर भगवान ने दीक्षा ले ली, वे जंगल में चले गये। बाद में उनका परिवार उन्हें वंदन करने तो आयेगा कि नहीं? कि आयेगा। माँ-बाप हो तो माँ-बाप वंदन करने आते हैं, (किसी की) पत्नी, पुत्रादि हो तो वे भी वंदन करने आते हैं। जो भी वंदन करने आये, वे जब वंदन करने आये और उन्हें

प्रदक्षिणा करते हो ठीक? मुनिराज को वंदन करते है तब नमस्कार करते है, प्रदक्षिणा करते है, ये सब करते हैं ना अब (मुनिराज) उन्हें देखें तो 'ये मेरे फलाने हैं' ऐसा विकल्प नहीं आता। क्या? 'ये मेरे माँ-बाप है, ये मेरी माँ है, ये मेरे बाप है, ये मेरी पत्नी है, ये मेरा पुत्र है', वे जब देखें तो उन्हें इस तरह नहीं दिखता। वंदन करने आये हुये जैसे दूसरे दुखी जीव दिखते हैं, वैसे ही उन्हें दिखते है। इस दृष्टांत से ऐसा कहते हैं कि तुम घर में रहते हुये ऐसे देखना सीख लो! क्या? वे भी छद्मस्थ थे, अभी केवली नहीं हुये थे। जब मुनिदशा में थे तब तक छद्मस्थ थे, अभी कोई केवली नहीं हुये थे। तो कहते हैं कि तू भले ही छद्मस्थ हो, भले ही केवली न हुआ हो, क्या? परंतु तुझे पुरुषार्थ यह करना है-प्रयत्न यह करना है। यह प्रयत्न करेगा तो ऐसा पुरुषार्थ करने से सत्संग की सफलता है, वरना तेरा सत्संग भी निष्फल जायेगा। ऐसा यहाँ 528 (पत्र) में कहना चाहते हैं। पूरे paragraph में एकदम parallel बात की है। जो 537 पत्र में जो बात की है, यह बात आगे भी स्वयं ने अनेक जगह की हैं।

539 में भी यही कहते हैं कि 'अन्य पदार्थ में जीव यदि निजबुद्धि करे तो परिभ्रमण दशा प्राप्त करता है...' सीधी सिद्धांतसूत्र जैसी बात ले ली कि यह जीव यदि अन्य पदार्थ में निजबुद्धि करता है, क्या? कि 'ये मेरे फलाने हैं' तो तेरा परिभ्रमण होने की बात यहाँ नक्की हो गयी। अतः जिसे परिभ्रमण का भावभासन आता है, उसे सभी अपनत्व के ऐसे अज्ञानमय परिणामों में परिभ्रमण दिखने लगता है।

परिभ्रमण की वेदना कहाँ से उत्पन्न होती है? अभी हम लोगों में ये प्रश्न की चर्चा चल रही है। अनेक मुमुक्षु ऐसा कहते हैं कि परिभ्रमण की वेदना आती नहीं। परिभ्रमण की वेदना आनी चाहिये, ऐसी बात हमारे सत्संग में चलती है और यह बात समझ में भी आती है और सम्मत भी होती है। लेकिन 'हमें तो अभी ऐसी वेदना नहीं आती है, लेकिन क्यों नहीं आती है, ये समझ में नहीं आता।' क्या कहते हैं? कि क्यों नहीं आ रही है, यह समझ में नहीं आता है। इसीलिये नहीं आती है क्योंकि जो पर में निजबुद्धि है, इस निजबुद्धि के कारण परिभ्रमण दशा प्राप्त होती है, यह बात वहाँ दिखती नहीं है। यह परिभ्रमण वहाँ visualize होना चाहिये। क्या? परिवार के सदस्यों को देखकर मेरापना जहाँ अंदर में, बिना विचार किये निर्विकल्परूप से हो जाता है। भाव तो चल ही रहे हैं कि 'ये मेरे फलाने हैं' उस वक्त वहाँ उसे परिभ्रमण दिखना चाहिये कि ये परिभ्रमण करने का भाव मैं कर रहा हूँ। इतने बड़े नुकसान को आमंत्रित कर रहा हूँ।

जीव का ऐसा स्वभाव है कि वह स्वयं अपने हाथ से अपने आपको नुकसान करे या दूसरा कोई उसे नुकसान करे तो यह बर्दाश्त करने के लिये, सहन करने के लिये किसी भी कीमत पर तैयार नहीं है। नुकसान किसी को चाहिये ही नहीं। सवाल इतना है कि नुकसान समझ में आता नहीं इसीलिये स्वयं को ही अपने हाथ से नुकसान करता है। क्या? नुकसान समझ में नहीं आता है इसीलिये स्वयं का अपने हाथ से नुकसान करता है। वरना नुकसान करने का या नुकसान सहन करने का या नुकसान को न्यौता देने का अथवा आमंत्रण देने का, जीव का स्वभाव ही नहीं है। यह जीव के स्वभाव के बाहर की बात है। प्रत्येक जीव को उसका निषेध ही आता है ये किसी को समझाना नहीं पड़ता है। अतः स्वाध्याय है, वह

लाभ-नुकसान समझने के लिये हैं कि आप समझ लीजिये अपने लाभ-नुकसान को आप समझो, वरना परिभ्रमण खड़ा है।

और 'निज में निजबुद्धि हो तो परिभ्रमणदशा दूर होती है।' क्या? निज के विषय में निजबुद्धि हो जाये तो परिभ्रमणदशा मिट जाती है। 'यह बात जिसके चित्त में ऐसे मार्ग की विचारणा करना आवश्यक है...' जिसको यह बात जरूरी लगती है कि इसका कुछ उपाय करना चाहिये। ऐसा मुझे तो हो रहा है, ऐसा लगता है कि मुझे तो ऐसा हो रहा है और मुझे इसका कुछ उपाय करना चाहिये। ऐसा जिसे लगे, नहीं लगे उसका तो कोई उपाय ही नहीं है वह तो (संसार में) दौड़ता ही रहेगा, (लेकिन जिसे लगा है) उसे क्या करना? कि 'ऐसा जो ज्ञान है, वह जिसके आत्मा में प्रकाशित हुआ है...' अर्थात् जिन्हें निज में निजबुद्धि हुयी है और पर में से निजबुद्धि जिनकी छूट गयी है। 'उसकी दासानुदास से अनन्य भक्ति करना...' ठीक? यहाँ co-ordination क्या है? किस बात का है? कि ऐसा ज्ञान किसकी आत्मा में प्रकाशित हुआ है? कि ज्ञानीपुरुष के, जिन्हें आत्मज्ञान हुआ है उन्हें पर में निजबुद्धि नहीं होती। पर में निजबुद्धि होती है उसे आत्मज्ञान नहीं होता। यह तो आमने-सामने स्पष्ट बात है। तो ऐसा ज्ञान जिस ज्ञानी को प्रकाशित हुआ है 'उसकी दासानुदास से अनन्य भक्ति करना ही परम श्रेय है...' परिभ्रमण और ज्ञानीपुरुष की भक्ति के बीच का co-ordination है यहाँ, क्या?

अभी भी कोई-कोई मुमुक्षु को ये बात समझ में नहीं आती है। कि आप परिभ्रमण की बात भी करते हैं और ज्ञानीपुरुष की भक्ति की बात भी करते हैं, सत्संग में दोनों ही बात आती है। तो कोई ऐसा कहते हैं कि हमारा परिभ्रमण की बात में तो कोई मेल नहीं खाता है, ज्ञानीपुरुष की भक्ति करना हमारी समझ में बराबर आता है और वही (भक्ति) करने का हमें मन भी होता है। कोई ऐसा कहते कि ज्ञानीपुरुष की भक्ति की बात आप बाद में रखो, पहले आप परिभ्रमण (की चिंता) में आओ, ऐसी चर्चा चलती है, क्या? कृपालुदेव ने इस 539 पत्र में दोनों का co-ordination (समन्वय) कर दिया है। क्या? कि ये दोनों बात co-related है। एक-दूसरे से जुड़ी हुयी है, एक बात के दो पहलू हैं। एक मुमुक्षु की योग्यता के ये दो पहलू हैं, क्या? जिसे परिभ्रमण की चिंता और वेदना आये, उसे ज्ञानीपुरुष की भक्ति आये बिना रहती नहीं। ज्ञानीपुरुष की भक्ति आये उसे, स्वयं को भक्ति का हेतु क्या है? जन्म-मरण मिटाने का हेतु है। भक्ति का हेतु क्या है? जन्म-मरण मिटाने का है और जन्म-मरण बढ़ने के कारणरूप स्वयं के जो परिणाम चलते हो, घर में अपनत्व के कि 'ये घर मेरा, ये कुटुंब मेरा, ये संयोग मेरे,' ऐसे जो परिणाम चलते हो वे तो परिभ्रमण के कारण हैं। ये परिभ्रमण के कारण ऐसे की ऐसे मौजूद हो और ज्ञानीपुरुष की भक्ति भी वर्तती हो, वहाँ उसे इस बात पर light (लक्ष) होनी चाहिये कि ये परिभ्रमण का कारण तो मेरा चालू ही है, उसकी तो मुझे कोई चिंता क्यों नहीं होती है? मुझे इसकी कोई वेदना क्यों होती नहीं है? और क्यों मैं सिर्फ भक्ति से संतोष मानना चाहता हूँ? या और कौन सा कारण है? इसे check (जाँच) कर लेना चाहिये। भक्ति का निषेध नहीं है लेकिन दोनों बात कोई अलग-अलग है, ऐसा नहीं है। इस एक ही पत्र में दोनों का (co-ordination किया है)।

मुमुक्षु:- भक्ति में भी स्वलक्ष में आने की जरूरत है।

पूज्यभाईश्री:- भक्ति भी स्वलक्षी होती है और परिभ्रमण की वेदना तो एकांतरूप से स्वलक्षी ही है। वास्तव में तो परिभ्रमण की वेदना से परलक्ष छुड़ाया है। वह एक ऐसी भूमिका है कि जिसमें परलक्ष का बहुत ही कड़ा निषेध होता है। क्योंकि स्वयं की ही इतनी ज्यादा चिंता हो गयी, स्वयं की ही इतनी ज्यादा चिंता है कि इसमें से वेदना उठती है, तड़पन उठती है इसमें से। अतः तीव्रता से स्वलक्ष में आने का ये प्रथम चरण है। नीव की बात ये है। वहाँ से स्वलक्ष की नीव शुरू होती है। ये स्वलक्षी नीव जितनी मजबूत होती है उतनी ज्ञानीपुरुष की भक्ति आये बिना रहती नहीं। ज्ञानीपुरुष की भक्ति आये तो ये भी हुये बिना नहीं रहता। ऐसे ये दोनों बात co-related (परस्पर) है, क्या? 539 पत्र में ये दोनों बात साथ-साथ में आयी हैं। अगर ध्यान से स्वाध्याय करें, तो (कृपालुदेव ने) सब विषय की स्पष्टता तो कर ही दी है।

अतः इस तरह, मुमुक्षु जीव को स्वाध्याय के अलावा के समय में, यानि कि उदय प्रसंगों में ऐसा पुरुषार्थ करना योग्य है। और ऐसा पुरुषार्थ चलना ही चाहिये और चालू रखना ही चाहिये, क्या? तभी सत्संग की सफलता है।

(ज्ञानीपुरुष ऐसा कहते हैं कि) तुम तो मंदिर आकर माला फेरने में सावधान हो, शास्त्र पढ़ने में सावधान हो, भक्ति-पूजा करने में सावधान हो, लेकिन अपनत्व नहीं करने में तो बिल्कुल सावधान नहीं हो! तो इसका क्या? जो करना चाहिये वह तो करता नहीं, इसे छोड़कर जो दूसरा कुछ करता है उसकी कोई सफलता भी मिलेगी नहीं। अरे, साधन भी नहीं रहता और साध्य भी नहीं रहता, सब झूठ ही है, सब निष्फल है। और अभी तक वह सब कुछ कर चुका है, 'यम, नियम, संजम आप क्रियो, पुनि त्याग बिराग अथाग लह्यो,..' 'सब शास्त्रन के नय धारी लिये मत-मंडन-खंडन भेद लिये;' हमारे मत में ऐसा है, हमारे संप्रदाय में ऐसा है, दूसरे के संप्रदाय में ऐसा है। शास्त्र पढ़कर भी वह सब संप्रदायबुद्धि (दृढ़) करने की प्रवृत्ति की है।

यहाँ कहते हैं कि अगर जीव अपनत्व छोड़ दे, जो प्रारब्धयोग से जिस सचेत-अचेत, सचेत-अचेत मिश्र, ऐसे परद्रव्यों का संयोग है, उसमें से अपनत्व छोड़ दे 'तो वह सर्व व्रत, यम, नियम, जप, यात्रा, भक्ति, शास्त्रज्ञान आदि सभी कर चुका है, इसमें कुछ संशय नहीं है।' हमें इसमें कोई (संशय नहीं है)। निःशंक बात है कि उस जीव का उद्धार हो जायेगा। वह बंधन से मुक्त हो जायेगा। मोक्ष को प्राप्त हो जायेगा। 'यही विनती।' है हमारी 'आत्मा स्वरूप को प्रणाम' क्या कहा? आत्मस्वरूप को प्रणाम। हम तो आत्मस्वरूप हैं, ऐसा कहते हैं। और मुमुक्षु को प्रणाम करते हैं, मुमुक्षु को भी प्रणाम करते हैं! ये 537 पत्र (समाप्त) हुआ। और इसमें मुमुक्षु के लिये बहुत प्रयोजनभूत बात की है। इस पत्र में कृपालुदेव ने मुमुक्षु के लिये एकदम प्रयोजनभूत बात करी है कि इतना संक्षेप यदि जीव में परिणमित हो गया, इतना ही अगर जीव काम करे, practise (प्रयास) करे, हररोज उठकर practise करे तो सफल होगा, होगा और अवश्य होगा ही। तो उस जीव को फिर संसार रहेगा नहीं। जो संसार में रहकर, संसार का संबन्ध

काटने लगा, उसे संसार कहाँ से रहेगा? वह तो संसार के बीच रहकर संसार के संबंध काटने लगा, उसे फिर संसार कहाँ से रहेगा? और फिर चाहे कभी भी उसका त्याग करना चाहेगा तो उसे वह कठिन नहीं लगेगा। वरना वन में जाकर घर याद आयेगा।

अगर उसने घर में रहकर अपनत्व नहीं छोड़ा होगा और अपनत्व छोड़े बिना दीक्षा ली होगी, जैसे मैंने मेरी पूँजी छोड़ी, मैंने मेरा घर छोड़ा, मैंने मेरे कुटुम्ब का त्याग किया, तो यहाँ तो कहते हैं कि तूने कुटुम्ब का त्याग तो किया लेकिन अपनत्व का त्याग नहीं किया। 'मेरे' कुटुम्ब का त्याग किया न! किसका त्याग किया? कि 'मेरे' कुटुम्ब का, यानि मेरापना तो तूने (अभी भी) रखा है और कुटुम्ब का त्याग किया है। इसीलिये (बाद में भी) तुझे इसकी याद आये बिना रहेगी नहीं। तू (त्याग में) नहीं टिक पायेगा। ऐसी परिस्थिति आयेगी। (यहाँ 537 पत्र पूरा हुआ)।

प्रवचन-10, दि. 08-01-1998

पत्रांक-374, भावनगर

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत) पत्रांक-374। 'चाहे जितनी विपतियाँ पड़ें, तथापि ज्ञानी से सांसारिक फल की इच्छा करना योग्य नहीं है।' अवतरण चिह्न में वाक्य लिखा है। आजीविका की चाहे जितनी आपको तकलीफ हो, ऐसा कहते हैं। ज्ञानी द्वारा इसका कोई रास्ता निकले (यानि कि) वे मदद करें, ऐसी सांसारिक फल की इच्छा रखना योग्य नहीं है। क्योंकि यह (भाव) दर्शनमोह बढ़ायेगा। उस दिशा में आप बिल्कुल मत जाना, चाहे कितनी भी विपत्ति आयी हो।

'उदय में आया हुआ अंतराय समपरिणाम से वेदन करने योग्य है, विषम परिणाम से वेदन करने योग्य नहीं है।' सम अर्थात् शांति। विषम अर्थात् राग-द्वेष करके। राग-द्वेष के परिणाम, मोह के परिणाम, ये सब विषम परिणाम हैं। और शांति से, धीरज से समाधान रखकर उस उदय में से पसार होना। वेदन करना अर्थात् भोगना, भोग लेना। वेदन करना अर्थात् शांति से भोग लेना। अपना प्रारब्ध है, इसमें दूसरा क्या विकल्प करना? अपना ही प्रारब्ध है, इसमें दूसरा विकल्प क्या करना? नहीं करना चाहिये।

मुमुक्षु:- सौभागभाई को दोनों तरफ के परिणाम चलते होंगे।

पूज्य भाईश्री:- हाँ दोनों तरफ के परिणाम (चलते थे)। इसमें तो ऐसा है कि मुमुक्षु की भूमिका है, दोनो चलेगा ही। परिवार में अपनत्व वह ज्ञानदशा के बिना सम्पूर्णरूप से तो छूटता नहीं। (सौभागभाई के लिये) तो उसे पतला करने की ही बात थी। उदय आया है वह तो आपका अपनत्व पतला कराने के लिये ही आया है। (उदय) लाने की इच्छा से तो लाया नहीं जाता, ऐसा कहते हैं। मुझे क्या? ऐसा होना चाहिये।

'आपकी आजीविका संबंधी स्थिति बहुत समय से ज्ञात है;...' उन्हें उदय बहुत लम्बा, बरसों तक चला है। 'बहुत समय से ज्ञात है; यह पूर्वकर्म का योग है।' जो परिस्थिति है, वह आपके ही पूर्वकर्म का योग है। तिर जाओ, परिणाम मत बिगाड़ो। इससे तिर जाओ।

'जिसे यथार्थ ज्ञान है ऐसा पुरुष अन्यथा आचरण नहीं करता; इसीलिये आपने जो आकुलता के कारण इच्छा अभिव्यक्त की वह निवृत्त करने योग्य है।' (सौभाग्यभाई ने) कोई बात लिखी होगी, इच्छा रखी होगी कि 'मैं ऐसा चाहता हूँ' (तब कृपालुदेव ने लिखा है) बिल्कुल नहीं। जिसे यथार्थ ज्ञान है वो अन्यथा यानि दूसरे किसी प्रकार से आचरण नहीं करते।

मुमुक्षु:- यह अपने लिये लिखते हैं?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, यानि हम भी अन्यथा आचरण नहीं करेंगे, ऐसा भी लागू होता है। हम तो कोई अन्यथा आचरण करते नहीं हैं, इसीलिये आपने आकुलता के कारण जो इच्छा व्यक्त की है, वह

आप छोड़ दीजिये, छोड़ दो। हम उस इच्छा का अनुसरण नहीं करेंगे, उसमें आपका अहित होगा, ऐसा कहना है। और वैसा आचरण हम नहीं करेंगे। जो करते हैं वह सोच-समझकर करते हैं।

‘ज्ञानी के पास सांसारिक वैभव हो तो भी मुमुक्षु को किसी भी प्रकार से उसकी इच्छा करने योग्य नहीं है।’ (कोई ऐसा कहे कि) ‘आपके पास तो बहुत पैसा है, आप थोड़ा वात्सल्य रखकर दे देंगे तो क्या बाधा होगी? आप तो ज्ञानी हैं इसीलिये वात्सल्य अंग तो आपको होता ही है।’ (ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि) ‘हमें क्या होना चाहिये वह हमें देखना है। तुझे क्या होना चाहिये वह तुझे देखना है।’ इसमें जीव क्या करता है? कि ‘आपको ऐसा करना चाहिये... आपको ऐसा करना चाहिये... आपको ऐसा करना चाहिये’। परंतु ‘आपको ऐसा करना चाहिये, यदि मैं ऐसा चाहूँ तो मुझमें कितनी क्षति बाकी है, यह ख्याल में नहीं आती। परलक्ष के कारण ध्यान नहीं जाता कि मेरे परिणाम में इस कारण से कितनी defect (क्षति) खड़ी होती है। ...दूसरे का दोष देखने वाला स्वयं का दोष नहीं देख सकता। दूसरे का दोष देखना यही स्वयं का दोष है। तेरा ध्यान ही क्यों गया?’

‘ज्ञानी के पास सांसारिक वैभव हो तो भी मुमुक्षु को किसी भी प्रकार से उसकी इच्छा करना योग्य नहीं है। प्रायः ज्ञानी के पास वैसा वैभव होता है, तो वह मुमुक्षु की विपत्ति दूर करने के लिये उपयोगी होता है।’ क्योंकि उन्हें वात्सल्य अंग होता है। इसीलिये प्रायः (मुमुक्षु को) उपयोगी होता है, परंतु मुमुक्षु को इसकी इच्छा करना योग्य नहीं है। उसे अपेक्षा नहीं होनी चाहिये। ज्ञानी, ज्ञानी का फर्ज निभायेंगे लेकिन इसके लिये तुझे विचार करने की आवश्यकता नहीं है। (ऐसा विचार) करे तो वह गलत है।

‘पारमार्थिक वैभव से ज्ञानी मुमुक्षु को सांसारिक फल देना नहीं चाहते; क्योंकि यह अकर्तव्य है- ऐसा ज्ञानी नहीं करते।’ (ज्ञानीपुरुष के पास) कोई रिद्धि-सिद्धि हो, कोई चमत्कार हो, साधना के कारण कोई लब्धि हो। तो इससे सांसारिक प्रतिकूलता टाल दे ऐसा ज्ञानी नहीं करते। यह अकर्तव्य है। ज्ञानी के लिये वह (अकर्तव्य है) न तो स्वयं के लिये इसका उपयोग करते हैं, ना ही दूसरे कोई मुमुक्षु के लिये उपयोग करते हैं। उसका प्रयोग वे करते ही नहीं है। कोई (अपवादरूप) परिस्थिति में उपयोग करे, तो वह बात दूसरी है। शासन की रक्षा का कोई प्रसंग आ पड़े और इसका (प्रयोग कर ले) वह बात दूसरी है, वरना नहीं करते।

मुमुक्षु:- इस रिद्धि-सिद्धि को आत्मज्ञान से कोई संबंध नहीं है।

पूज्य भाईश्री:- (हाँ कोई संबंध नहीं है) किसी को होती है और किसी को नहीं होती है। सबको हो, ऐसा कोई जरूरी नहीं है।

मुमुक्षु:- उसका उपयोग करे या न करे, और अगर करे तो इनका ज्ञान चला जाये ऐसा तो नहीं है न?

पूज्य भाईश्री:- करे तो भी विवेकपूर्वक ही करते हैं। सांसारिक उद्देश्य के लिये करे तो ज्ञान चला भी जाये। 'अकर्तव्य है' ऐसा लिखा न! 'अकर्तव्य है-ऐसा ज्ञानी नहीं करते।' सांसारिक हेतु सिद्ध करने के लिये ज्ञानी करते नहीं और यदि करे तो ज्ञान चला जाये, ऐसा है। किसी पारमार्थिक हेतु से करना पड़े तो वह बात अलग है। परंतु ऐसा बहुत rare case में बनता है, वरना तो करते ही नहीं।

'धीरज न रहे ऐसी आपकी स्थिति है ऐसा हम जानते हैं...' (सौभागभाई की आर्थिक) परिस्थिति बहुत ही कमजोर थी। जैसे कि एक दृष्टांत देते हैं, उन दिनों कोई ज्यादा luxury तो थी नहीं। गाँव के लोग सादगी से जीवन जीते थे। हम लोग तो अभी (सायला-गाँव) हो आये, उनका घर कहाँ था, (वह देख आये)। कितना छोटा गाँव है। गलियों में गंगा-जमना चल रही थी! (नाली खुल्ली थी) अभी सौ साल बाद ये हालत है, तब तो कितना छोटा गाँव होगा। अतः उस (जमाने में) कोई luxurious जीवन तो होगा नहीं, सादगी पूर्ण जीवन होगा। छाछ और रोटी खाते होंगे। ऐसी परिस्थिति में भी (घर खर्च निभाने के लिये) पैसे न हो, बाजरे की बोरी लाया हो, उसका payment करें उसके पहले तो बोरी खाली हो गयी हो। कुटुंबीजन पूरे बाजरे की बोरी खत्म कर दे तब तक पहले के पैसे देने का उपाय नहीं हो पाया हो। गाँव में तो सब एक-दूसरे को पहचानते हैं (इसीलिये ऐसा कहे कि) 'दूसरी बोरी भेज दीजिये।' (तब दुकानवाला क्या कहेगा) 'लेकिन आगे के पैसे बाकी हैं, उसका क्या? डेढ़ महिना हो गया, दो महिने हो गये, आप पूरी बोरी खा गये परंतु पैसे तो भिजवाये नहीं।' (लेकिन क्या करें) पैसे हो तब तो भिजवाये, आबरू का प्रश्न खड़ा होता है कि नहीं?

(कृपालुदेव) क्या कहते हैं? 'धीरज न रहे ऐसी आपकी स्थिति है ऐसा हम जानते हैं,...' ऐसी परिस्थिति में आपको धीरज न रहे, आकुलता हो जाये ये संभवित है। 'फिर भी धीरज में एक अंश की भी न्यूनता न होने देना, यह आपका कर्तव्य है;...' फिर भी सम्पूर्ण धीरज रखना, यह आपका कर्तव्य है, 'और यह यथार्थ बोध पानेका मुख्य मार्ग है।' अगर आपको ज्ञानदशा प्राप्त करनी हो तो इस उदय में आप धीरज रखकर लड़ीये, लड़ीये अर्थात् प्रयोग करो। देखिये, कि आपके परिणाम कितने खींचते हैं? क्यों खींचते हैं? किसके लिये खींचते हैं? प्रतिकूलता के उदय को आदर देना और सत्कार करना तो ही धीरज और शांति रहेगी, वरना उसे मिटाने के लिये परिणाम आकुलित हुये बिना नहीं रहेंगे। यह कैसे मिटे? यह उदय कैसे मिटे? यह कैसे जाये? यह कैसे होगा? ऐसा लगेगा। प्रतिकूलता आने पर tension आता है। अगर यथार्थ समझ होगी तो, (लगेगा कि) ठीक है, भले (उदय) आया। ये मेरे आत्मकल्याण का कारण बनेगा। ये ही उदय मेरे आत्मकल्याण का कारण बन जायेगा। अच्छा हुआ, जरूरत थी, ऐसा होने की जरूरत ही थी। इस तरह उसका आदर-सत्कार करेगा। ईश्वर की (कुदरत की) भेजी हुयी प्रसादी समझेगा। प्रतिकूलता के उदय के लिये 'भले पधारें' ऐसा board लगा देना, फिर tension में नहीं आओगे, वरना tension आये बिना रहेगा नहीं।

'धीरज में एक अंश की भी न्यूनता न होने देना, यह आपका कर्तव्य है; और यह यथार्थ बोध पाने का मुख्य मार्ग है।' (न्यूनता अर्थात् कमी) बाकी तो उदय में जुड़कर सब संसारी, परिणाम बिगाड़

ही लेते हैं। यथार्थ बोध पाने वाले की तो पूरी बात ही अलग होनी चाहिये। उसको तो धीरज रखनी चाहिये। इसके बजाय अधीरज हो जाये तो बात पूरी हो गयी! ये साधारण बात नहीं है, निर्वाणपद लेना है। यथार्थ बोध की प्राप्ति करके निर्वाणपद लेना है, कोई मामूली बात नहीं है। तो इसके लिये पूरी तैयारी ही चाहिये, पूरी-पूरी तैयारी चाहिये। और आत्मार्थी तो पहले से ही तैयार होता है। चाहे कैसी भी प्रतिकूलता का उदय आये, हमें तिरने का निमित्त बना लेना है-तिरने का साधन बना लेना है। इसीलिये उस उदय के वक्त इष्ट-अनिष्टपना न हो और धीरज रहे ऐसा (पुरुषार्थ करना चाहिये)।

सौभाग्यभाई की आर्थिक स्थिति पर बात चल रही है कि धीरज न रहे ऐसी आपके उदय की स्थिति है। ऐसा होने पर भी पूरी धीरज रखना, धीरज की जरा भी कमी न रहे यह आपके लिये कर्तव्य है और यही बोध पाने का मुख्य मार्ग है। इसमें से क्या परमार्थ निकलता है?

आर्थिक प्रतिकूलता हो या किसी भी प्रकार की प्रतिकूलता हो, इसमें धीरज रखना यही कर्तव्य है और यह बोध अर्थात् ज्ञान पाने का मार्ग है। अगर उदय में जुड़कर आकुलता करेंगे तो यह तो आवरण करता ही है। उदय में उदयभाव रूप परिणाम करने से कर्मबंधन का आवरण तो होगा ही। और ज्ञान प्राप्ति के लिये खुल्ली जगह यानि अवकाश नहीं रहेगा। उदय में नहीं जुड़ेंगे तो ही अवकाश रहेगा क्योंकि वहाँ से आप free हुये। अगर उदय में जुड़ गये तो वहाँ आप रुक गये (फिर) ज्ञान प्राप्ति का कोई अवकाश नहीं रहता।

मुमुक्षु:- यहाँ पर जो धीरज रखने की बात की तो इसमें किस प्रकार के परिणाम होने चाहिये?

पूज्य भाईश्री:- धीरज इस तरह रखना है कि ये जो उदय आया है वह ममत्व छुड़ाने के लिये आया है, अपनत्व छुड़ाने के लिये आया है। संयोग में अपनत्व है, कुटुंब-परिवार में अपनत्व है, यह अपनत्व का जो अपराध चल रहा है इसे छुड़ाने के लिये मुझे ये उदय आया है। ये उदय आया है तो मैं इसमें अपनत्व छोड़ने का प्रयोग और पुरुषार्थ करके इसे छोड़ सकता हूँ। अगर उदय ही नहीं आया होता तो? अतः यदि प्रयत्न में लगेगा तो धीरज रहेगी और प्रयत्न में नहीं लगेगा तो जुड़ जायेगा।

...जैसे कि अभी बात चली कि शरीर में अशांता होती है, पीड़ा होती है, दर्द होता है तब दर्द कैसे नहीं हो, इसके लिये हम व्यवस्था करते हैं, यह तो हम उदय में जुड़ गये। उस वक्त प्रयास क्यों करने लगते हो आप। कि इस देह के साथ मेरा जो एकत्व है, इस एकत्व के कारण मैं पीड़ा भोग रहा हूँ देह में एकत्व नहीं होता तो पीड़ा भोगनी नहीं पड़ती। कम से कम तपास (जाँच) तो करूँ मेरे एकत्व की। दूसरा प्रयत्न, स्वरूप का अवलंबन लेने की तो कोई बात ही अलग हो गयी, लेकिन अभी कम से कम ये तो तपास करूँ कि मेरा एकत्व कितना है? इसके लिये हो सके वहाँ तक कोई उपचार न करूँ और मेरे परिणाम को देखूँ कि कहाँ तक मैं धीरज रख पाता हूँ। कहाँ तक जुड़ना नहीं होता है, ऐसे।

मुमुक्षु:- ये धीरज रखने की जो बात कही, वह तो किसी भी प्रसंग में लागू कर सकते हैं न?

पूज्य भाईश्री:- सभी जगह (लागू कर सकते हैं)। General बात यही है। और इसमें भी धीरज न रह सके ऐसी स्थिति में धीरज रखनी है। और ऐसी धीरज रखनी है कि एक अंश में भी धीरज कम न हो। इतनी हद तक की शर्त और शिक्षा दी है। जो अपनत्व होता है, अशाता वेदनीय के उदय में तो प्रयत्न करते वक्त ऐसा जोर आना चाहिये कि बिल्कुल अपनत्व करना नहीं है। 'मैं तो अज्ञानी हूँ, अभी तो मुझे हो ही जाये न!' ऐसे नहीं चलता, 'अभी मुझे कहाँ ज्ञान हुआ है? अनुभव नहीं हुआ है तो अनुभव होने के पहले तो ऐसा हो ही जाये न।' ये सब जानकारी इस तरह लागू नहीं करनी है, क्या? ये तो क्षयोपशम में जो धारणा और जानपना है उसका misuse हुआ, ये तो गलत उपयोग किया। इसमें दोष का पक्षपात होता है, अभिप्राय की भूल होती है। मेरा जो एकत्व हो रहा है इसकी मैं अनुमोदना करता हूँ कि 'अभी तो मुझे होगा ही न, अभी तो मुझे होगा ही न।' ऐसे नहीं होता, ऐसे प्रयोग नहीं होता, ऐसे पुरुषार्थ नहीं होता क्योंकि ध्येय तो सम्पूर्ण निर्दोष होने का है। एक भी दोष करने का ध्येय नहीं है, तो परिणाम तो ध्येय के अनुसार जितने शक्य हो उतने चलने चाहिये। ध्येय का अनुसरण करते हुये शक्य हो उतने चलने चाहिये। स्वयं की शक्ति हो इसके अनुपात में पुरुषार्थ तो करना ही चाहिये न। वरना तो शक्ति का गोपन (छिपाना) करने जैसा होगा।

अब आगे लिखते है, यहाँ तक चल गया था। 'अभी तो हमारे पास ऐसा कोई सांसारिक साधन नहीं है कि जिससे आपके लिये धीरज का कारण होवे;...'

मुमुक्षु:- मान लीजिये कि मुमुक्षु का उदय में प्रयास नहीं होता या नहीं कर सकता हो तो इसका उसे खेद तो होगा न?

पूज्य भाईश्री:- हाँ इसमें ऐसा है कि जो प्रयास करने का निर्धार करता है उसका थोड़े-बहुत प्रमाण में प्रयास होता ही है। थोड़ा देरी से या जल्दी हो हो उसकी बात अलग है, वरना प्रयास करना चाहे और बिल्कुल प्रयास न हो ऐसा नहीं बनता। क्योंकि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव अच्छा वीर्य का क्षयोपशम लेकर आया है। हमें कोई व्यापार में ऐसा कहे कि 'ये एक ऐसा काम है कि अगर आप करो तो आपकी monopoly हो जाये इसमें ऐसा है। सामने कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है, आप चाहो जितनी कमाई कर सकते हो। इसमें आपकी ही monopoly है। सामने कोई competition नहीं है। लेकिन ये काम करने में थोड़ी ऐसी तकलीफ है, थोड़ा कठिन है। परंतु करोगे तो बहुत फायदा हो सकता है।' तब कठिनाई को मुख्य करेगा? (ऐसा ही कहेंगे) 'कोई दिक्कत नहीं। भले ही कठिन हो, हमें एक बार कर लेना है, एक बार ये काम पूरा कर लेना है।' ऐसे ही लेगा न, वहाँ आदमी कठिनाई को मुख्य नहीं करता। क्योंकि उसके सामने (बड़ा लाभ) result दिखता है।

वैसे यहाँ सब क्लेश और दुःख का अभाव होने वाला है। सम्पूर्ण सुख-शांति होने वाली है। इस चीज पर दृष्टि रहनी चाहिये, लक्ष रहना चाहिये। तो ही काम करने का उत्साह आयेगा, वरना उत्साह टूट जायेगा। फिर खेंचातानी करना पड़ेगा, ऐसा होगा।

‘टोडरमलजी’ ने लिया है ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ में एक जगह कि जो आत्मार्थी जीव है उसे ऐसा विचार आता है कि अहो! अनंतकाल में मैंने जो काम किया नहीं, ऐसा मुझे मेरे आत्मकल्याण का, आत्मा की सुख-शांति का काम करना है। अनंतकाल में जो नहीं किया वह मैं करना चाहता हूँ और वह करने का मेरा निर्धार है। तो उसे यह कार्य करने में बहुत उमंग और बहुत उत्साह वर्तता है। वीर्योल्लास से काम करता है, उल्लासपूर्वक काम करेगा। प्रयत्न कर सके इतना पुरुषार्थ हमारे पास है ही। पुरुषार्थ नहीं होने का तो सवाल ही नहीं। इतने प्रमाण में तो होगा, होगा और अवश्य होगा।

मुमुक्षु:- भाईश्री, ‘अनुभव प्रकाश’ में ‘दीपचंदजी साहब’ लिखते हैं न, मैंने मेरी भावना से विजय स्तंभ रोपा है।

पूज्यभाईश्री:- वे तो बहुत बलवान पुरुषार्थ वाले थे। विजय स्तंभ (रोपा है) और अब मैं पीछे हटूँ ऐसा नहीं है। मेरी भावना का विजयस्तंभ रोपा है, अब मैं पीछे हटनेवाला नहीं हूँ। अब मेरी भावना में मैं पीछे नहीं हटूँगा, मेरे पुरुषार्थ में पीछे नहीं हटूँगा, मेरी दशा से पीछे नहीं हटूँगा।

अब आगे लिखते हैं, ‘अभी तो हमारे पास ऐसा कोई सांसारिक साधन नहीं है कि जिससे आपके लिये धीरज का कारण होवे;...’ यानि कि कोई ऐसा हमारे पास व्यवसाय या business नहीं है कि जिसमें से आपको कुछ एक हिस्सा दे दें। ‘परंतु वैसा प्रसंग ध्यान में रहता है;...’ ऐसा लक्ष रहता है कि ऐसा कुछ हो तो आपको कहें लेकिन अभी तो ऐसा कुछ नहीं है। ‘बाकी दूसरे प्रयत्न तो करने योग्य नहीं हैं।’ दूसरे यानि कोई रिद्धि-सिद्धि, लब्धि, कोई विद्या इत्यादि कोई प्रयत्न तो कर्तव्य है ही नहीं।

‘किसी भी प्रकार से भविष्य का सांसारिक विचार छोड़कर वर्तमान में समतापूर्वक प्रवृत्ति करने का दृढ़ निश्चय करना यह आपके लिये योग्य है। भविष्य में जो होना योग्य होगा, वह होगा, वह अनिवार्य है, ऐसा समझकर परमार्थ-पुरुषार्थ की ओर सन्मुख होना योग्य है।’ ये समाधान दिया है कि कैसे धीरज रखना। ‘किसी भी प्रकार से भविष्य का सांसारिक विचार छोड़कर वर्तमान में समतापूर्वक प्रवृत्ति करने का दृढ़ निश्चय करना...’ (यानि कि) भविष्य का सांसारिक विचार यह चिंता है, भविष्य की चिंता है। भविष्य की चिंता करना बेकार इसीलिये है कि ऐसी चिंता से कोई फायदा नहीं होता। कोई उदय बदल नहीं जाता। जो होनेवाला है वह होता ही है और होकर ही रहता है, वह अनिवार्य ही होता है। इसका निवारण चिंता नहीं है। परंतु जीव अपनत्व के कारण चिंता किये बिना रह सकता नहीं, इसीलिये उससे चिंता हो जाती है। अतः वर्तमान में पुरुषार्थ करने के बजाय वह चिंता की ओर पुरुषार्थ को लगा देता है, ये भूल करता है। इसीलिये ऐसा कहा कि चिंता तो नहीं करना। तो फिर क्या करना? कि परमार्थ-पुरुषार्थ (यानि) परमार्थ की दिशा में पुरुषार्थ, पारमार्थिक पुरुषार्थ के सन्मुख होना अर्थात् उसमें जुड़ना। आत्मकल्याण के पुरुषार्थ में जुड़ना और भविष्य की चिंता को छोड़ देना। भविष्य की चिंता ज्ञानी तो करते ही नहीं, यह ज्ञानी का लक्षण है। और जो भविष्य की चिंता करता है, यह अज्ञानी का लक्षण है। ज्ञानी का लक्षण नहीं है परंतु अज्ञानी का लक्षण है। अतः भविष्य का विकल्प करने जैसा है ही नहीं।

प्रत्येक मनुष्य ने थोड़ा-बहुत आयुष्य तो भोग ही लिया है। जिसकी जितनी उम्र इतना आयुष्य तो भोग ही लिया है। बाकी कितना है? यह किसी को मालूम नहीं है। कितना बाकी है यह किसी को मालूम नहीं है। बाकी रहा शेष आयुष्य प्रारब्ध अनुसार भोग लेना है और जितना समय मिले उतना आत्मकल्याण की दिशा में पुरुषार्थ करते हुये ही व्यतीत करना है, ऐसा दृढ़ निश्चय करना चाहिये। तो ही जीव भविष्य की चिंता से मुक्त होकर आत्मकल्याण कर सकता है, वरना भविष्य की चिंता यह एक ऐसा अजगर है कि जो आत्मा को पूरा पूरा निगल जाता है, खा ही जाता है। वह जीव पुरुषार्थ कर ही नहीं सकता। (जो जीव) भविष्य की चिंता में रुका हुआ है वह पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा। क्यों? कि उसके अनुसरण करते हुये विकल्प चलते ही रहेंगे, आते ही रहेंगे। कुछ न कुछ, कोई न कोई विकल्प आते ही रहेंगे, जिसमें वह जुड़ेगा और इसकी प्रवृत्ति हो जायेगी कि जो चिंता और विचार बेकार है। इसका कोई कार्यकारीपना तो है ही नहीं। लेकिन उस वक्त यह विस्मृत हो जाता है। जो चिंता हो रही है वह जैसे भविष्य की अफर (नहीं बदलने वाली) परिस्थिति को मैं बदल दूँगा, चिंता करके बदल दूँगा, ऐसी कर्ताबुद्धि इसमें काम करती है। भविष्य की अनुकूलता भोगने की भोक्ताबुद्धि काम करती है। अपनत्व की एकत्वबुद्धि भी काम करती है और जोर से काम करती है। पूरा का पूरा पुरुषार्थ इसके पीछे चला जाता है। फिर आत्मकल्याण के लिये पुरुषार्थ बचता ही नहीं है। कोई अवकाश ही नहीं रहता, ये दशा होती है।

वर्तमान में तो ऐसा कहते है (कृपालुदेव) निश्चय करके, परमार्थ का यानि आत्मकल्याण का पुरुषार्थ करने के लिये तत्पर होना और यह प्रयत्न चालू रखना। किस परिस्थिति में? कि चाहे जैसी परिस्थिति में, कोई भी परिस्थिति में (चालू रखना)।

‘चाहे जिस प्रकार से भी इस लोकलज्जारूप भय के स्थानभूत...’ भविष्य कैसा है? लोकलज्जारूप भय का स्थानक है। लोगों की लज्जा आड़े आती है। भविष्य में अपनी (आर्थिक) स्थिति अगर नहीं बनी रहेगी तो लोगों में अपनी इज्जत चली जायेगी। लोगों में अपनी कोई इज्जत और इतनी कीमत नहीं रहेगी। समाज में अपना इतना स्थान नहीं रहेगा। लोग पैसेवाले को ही बुलाते हैं, हमें तो कोई बुलायेगा भी नहीं, ऐसा भय लगा करता है। ऐसे ‘भविष्य का विस्मरण करना योग्य है।’ तू भूल ही जाना इस बात को। जिसे सिद्धालय में जाना है, उसे समाज के बीच कहाँ रहना है? रहना है क्या? (नहीं) तो फिर अभी से छोड़ दे ना।

जैसे मनुष्य मुसाफिरी करता है तो सामान बांधने लगता है कि नहीं? वैसे हमें सिद्धालय की मुसाफिरी करनी हो तो सामान में क्या बांधना? कि सब जगह से संक्षेप कर लेना। क्योंकि मुझे तो आपके साथ रहना नहीं है, फिर क्या? (कोई पूछे कि) आना-जाना क्यों बंद कर दिया? ‘क्योंकि मुझे आपके साथ रहना नहीं है, फिर क्या? मेरे तो वहाँ बहुत सगे हैं-अनंत सिद्ध हैं। मुझे उन लोगों के साथ रहना है, आपके साथ नहीं रहना है। संसारियों के साथ नहीं रहना है।’ सिद्ध तो असंसारी हैं और मुझे असंसारी होना है। मुझे संसारी रहना नहीं है। फिर संसारियों के साथ संबंध काट दें तो इसमें गलत क्या है? मुसाफिरी

करनी हो तो सामान तो बांधना पड़ता है कि नहीं? बस, दुकान समेट लेनी है। संसार की दुकान बंद करनी है, फिर क्या? माल बेचते-बेचते थोड़ा माल रह गया, तो कहते हैं माल तो क्या? फर्नीचर तक भी बेच देना है। जिसे दुकान ही बंद करनी है फिर सवाल ही कहाँ है?...

‘चाहे जिस प्रकार से भी इस लोकलज्जारूप भय के स्थानभूत भविष्य का विस्मरण करना योग्य है।’ मूल में क्या है? सबके दिमाग में भूत तो ये है, अभिप्राय का भूत ये है कि समाज के बीच रहना है, सगे-संबंधी के बीच रहना है, फिर इसके अनुसार यथोचित व्यवहार रखना चाहिये कि नहीं रखना चाहिये? परंतु यहाँ रहना ही नहीं है, इसका क्या? रहना है... रहना है... रहना है... करता है लेकिन आयुष्य पूरा होगा फिर कहाँ रहने वाला है? (मान लो) अचानक बुलावा आ गया, फिर तेरा रहना है... रहना है... क्या काम में आयेगा? (ऐसा करते-करते) तो परिभ्रमण में ही गया है। यह भविष्य तो विस्मरण करने योग्य है। दुनिया में तो भविष्य का विचार करने वाला समझदार माना जाता है। देखो भाई, वह तो पानी आने के पहले पाल बांध लेता है, इतना समझदार व्यक्ति है। कल का विचार आज कर लेता है, लेकिन यहाँ उसे पागल कहते हैं। लोग जिसे समझदार कहते हैं, ज्ञानी उसे पागल कहते हैं। क्यों? (क्योंकि) ऐसी चिंता करने से भी उसकी कोई चलनेवाली तो है नहीं। चाहे जितनी चिंता कर ले न, जो होनेवाला है वही होकर रहेगा। इसमें फेरफार करने का किसी को अधिकार नहीं है। इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र किसी का भी अधिकार नहीं है।

‘उसकी चिंता से’ परमार्थ का विस्मरण होता है...’ जिसे संयोग की चिंता है उसे आत्मकल्याण का विस्मरण (होता है) और जिसको आत्मकल्याण की चिंता हो उसे संयोग का विस्मरण (होता है) ये सीधा हिसाब है, क्या? जिसे संयोग की चिंता उसे परमार्थ का विस्मरण यानि कि आत्मकल्याण का विस्मरण। और जिसे आत्मकल्याण की चिंता (होती है) उसे संयोग का विस्मरण (होता है)। संयोग की चिंता ये आकुलता नहीं है तो और क्या है? अपने अनुभव को तो तू देख, तू संयोग की चिंता करता है उसमें तुझे आकुलता होती है, तेरे ऐसे अनुभव को तू देख। तू सुखी होने के लिये चिंता करता है लेकिन वर्तमान में तो तू दुःखी हो रहा है, उसका क्या? इतना ही नहीं, इस चिंता के फल में दुःखी ही होने वाला है, इसका क्या? तू चिंता तो करता है सुखी होने के लिये, और तेरी चाल दुःखी होने की है, गलत चाल पकड़ी है। तुझे खबर नहीं है कि सुखी कैसे हुआ जाता है? सुखी कैसे हुआ जाता है इसकी भी खबर नहीं और दुःखी क्यों हो रहा हूँ इसकी भी खबर नहीं है। ऐसा अज्ञान का घोर अंधेरा है।

संयोग की चिंता से, भविष्य की चिंता से परमार्थ का विस्मरण होता है। ‘और ऐसा होना महान विपत्तिरूप है;...’ वह बड़ी विपत्ति है। हलके रूप में लेने जैसा नहीं है-बड़ी विपत्ति है। जहाँ-जहाँ जीव अपनत्व करता है, वहाँ-वहाँ उसकी चिंता किये बिना कैसे रहे? बताईये तो सही! जहाँ-जहाँ जीव अपनत्व करे वहाँ उसकी चिंता हुये बिना कैसे रहेगी? रह सकती ही नहीं न, और आपत्ति का कारण है। ये आपत्ति भविष्य में दुःखी होने का कारण है। ‘महान आपत्ति’ ली है। ‘और ऐसा होना महान आपत्तिरूप है;...’ क्योंकि तू परिभ्रमण के चक्कर के तूफान में फँस जायेगा। ऐसी चिंता करके तू परिभ्रमण के तूफान

में ऐसा फँसेगा... ऐसा फँसेगा कि फिर वहाँ से निकालना मुश्किल होगा, फेंका फेंक होगी, यहाँ से मरा और यहाँ जन्मा, यहाँ से मरा और यहाँ जन्मा, वहाँ से मरा और यहाँ जन्मा, ये हालत है। 'इसीलिये वह आपत्ति न आये इतना ही वारंवार विचारणीय है।' भविष्य में ऐसी आपत्ति न आये इसी का वारंवार विचार करना है, तो अपनत्व पतला हो जायेगा। इसकी चिंता और इसकी विचारणा में आयेगा, सुविचारणा में आयेगा, आत्मकल्याण की विचारणा में आयेगा तो सब ठंडा पड़ जायेगा।

मुमुक्षु:- भाईश्री, ये भविष्य की चिंता की जो परिणति चलती है वह स्वयं ही आकुलतारूप है न? इसकी पूरी कतार इसी में से खड़ी होती है न?

पूज्य भाईश्री:- वह चिंता स्वयं ही आकुलतारूप है और आकुलता की परंपरा की वह सर्जनहार है (आकुलता उत्पन्न करेगी)। वर्तमान में तो दुःख है और दुःख की परंपरा का सर्जन करती है। ... एक भी बात नहीं मानता। विपरीत अर्थात् पूरा-पूरा विपरीत चलता है। फिर कहता है कि मैं दुःखी होता हूँ, लेकिन दुःखी होने का काम तो स्वयं ही करता है। दुःखी होता हूँ, ऐसा कहता है लेकिन दुःखी होने का काम तो स्वयं ही करता है। अपने हाथों से करता है।

'इसीलिये वह आपत्ति न आये इतना ही वारंवार विचारणीय है। बहुत समय से आजीविका और लोकलज्जा का खेद आपके अंतर में इकट्ठा हुआ है।' आजीविका की प्रतिकूलता का दुःख व लोकलज्जा (दोनों) इकट्ठे हुये हैं।

वैसे तो उनका 'शेठ' कुटुंब था। उनके पिताश्री 'लल्लुभाई शेठ' कहलाते थे। लीमड़ी दरबार के वहाँ काम करते थे। दरबार की नौकरी यानि अच्छी नौकरी गिनी जाती थी। बनिये की नौकरी में इतना पगार नहीं मिलता। जब कि राजा तो थोड़ा उदार होता है न, नौकरी तो दो जगह हो सकती है, या तो कोई व्यापारी के वहाँ नौकरी करे या तो राज्य में करे। राज्य की नौकरी अच्छी मानी जाती है। क्योंकि राजा क्या देखता है? कि ये मेरा आश्रित है वह दुःखी नहीं होना चाहिये। मैं सुखी हूँ तो मेरा काम करनेवाला भी सुखी रहे। इतना ही नहीं प्रसंग-प्रसंग पर कुछ न कुछ देते रहते हैं। चलो आज राजा का जन्मदिन है तो सबके घर इतना-इतना भेज दो। आज कुँवर का जन्मदिन है तो सबके घर इतना-इतना भेज दो। आज रानीसाहिबा का जन्मदिन है तो भेज दो इतना-इतना। उसके घर शादी के प्रसंग आये तो कहेंगे कि सबको इतना लाभ कर दो, क्या? एक जमाना ऐसा था भावनगर के दरबार कृष्णकुमारसिंहजी थे, उदार थे। एक हमारे मित्र जैसे थे चारण-गढ़पाला। सिदसर के बगल में छोटा गाँव है, गाँव का नाम तो मैं भूल गया हूँ। हुआ क्या कि चारण इतनी तारीफ करता, इतनी प्रशंसा करता, उनके लिये गीत बनाता और गाता। प्रसंग हो तो विशेषरूप से गाता ऐसा सब करता। (तब दरबार ने कहा) पूरी जमीन दे दी, पैसा नहीं जमीन दे दी। जाईये! जमीन मे खेती करो और जो उपज आये उसमें से आपका कुटुंब और उसके बेटे के बेटे... बेटे के बेटे... सब खाते रहेंगे। आज तीसरी-चौथी पीढ़ी जमीन बेचकर पैसा इकट्ठा करती है, इस तरह राज्य में तो ऐसा होता है।

एक तो surname शेठ हो और साथ में राज्य की नौकरी हो, ऐसे में खाने-पीने तक की परिस्थिति न रहे इतनी गरीबी आ जाये। व्यापार-धंधा में नुकसान हुआ हो (ऐसे में) लोकलज्जा आड़े आती है। अरे...! हमारा कैसा दिखेगा? समाज में हमारा कैसा दिखेगा? नात-जात में हमारा कैसा दिखेगा? बेटे-बेटी की शादी होगी कि नहीं? गरीब आदमी को कोई बेटी नहीं देता, बेटा हो तो उसको कोई अपनी बेटी नहीं देता और अपनी बेटी की शादी करनी हो तो बहुत गरज करनी पड़े। ये सबका बिना विचारे भी इतना tension आता है... इतना tension आता है... वह सब लोकलज्जा के कारण आता है...लोकलज्जा में ऐसा ही होता है कि अपना अच्छा दिखना चाहिये... अपना अच्छा दिखना चाहिये... अपना अच्छा दिखना चाहिये, क्या? इसके लिये गुजराती में एक कहावत है, 'घरना छोकरा घंटी चाटे अने पाड़ोसीने आटो', मतलब आटा आये उसमें से महेमान को अच्छा-अच्छा खिलाये और घर के बच्चों के लिये कुछ नहीं, पीछे से जो बचा हो इसके लिये कहेंगे, सब चाट जाओ, 'घरना छोकरा घंटी चाटे अने पाड़ोसी ने आटो'। क्योंकि जाति में पटेल, नाक लंबी हो, फिर इज्जत बनी रहे इसीलिये सब दिखाव करेगा। (स्वयं के पास) कुछ हो नहीं, (आर्थिक) स्थिति तो कुछ होती नहीं हमने तो ऐसे बहुत से कुटुंब देखे हैं। ...ऐसी कहावत बन गयी है कि जाति का जो मुखिया होता है उसके बच्चे भूखे मरते हैं। क्योंकि उसका समय तो पर पटेली में ही जाता है। अपने बच्चे का ध्यान नहीं रख सकता। वैसे तो सब प्रारब्धाधीन होता है। लेकिन ऐसी एक लोगों में कहावत हो गई है। ये सब लोकलज्जा का कारण है। लोकसंज्ञा-लोकदृष्टि है।

क्या कहते हैं? 'बहुत समय से आजीविका और लोकलज्जा का खेद आपके अंतर में इकट्ठा हुआ है।' ये स्पष्टरूप से दोष दिखाया। देखा, ये सीधा उन्हें जिस प्रकार का परमार्थमार्ग में अवरोध होने का जो कारण था, वह बता दिया। कि इस प्रकार का दोष आपको चल रहा है। 'इस विषय में अब तो निर्भयता ही अंगीकार करना योग्य है। फिर कहते हैं कि यही कर्तव्य है।' ये भय आप छोड़ दीजिये, लोकलज्जा का भय छोड़ दीजिये, भविष्य की चिंता का भय छोड़ दीजिये।

अभी तो (ऐसा हो गया है) घर के लड़के-लड़की ठीक से नहीं पढ़ते हो तो कहेंगे कि भविष्य में तेरा क्या होगा? तू ठीक से पढ़ाई कर... ठीक से पढ़ाई कर...। अरे...भाई, वे अपना नसीब लेकर आये हैं। और सबने पढ़ाई की लेकिन पढ़ाई का कितना उपयोग कर लिया? विचार तो करो ना, ऐसा कुछ नहीं, सब प्रारब्धाधीन चलता है। लेकिन इतनी सावधानी रखता है... इतनी सावधानी रखता है, उसके भविष्य की। लेकिन यहाँ कहते हैं कि तेरे भविष्य का क्या होगा? उसके भविष्य की तो तुझे चिंता है, लेकिन तेरे भविष्य की तुझे क्यों चिंता नहीं है? कि कहाँ जायेगा? ऐसे परिणाम करके कहाँ जायेगा तू?

'फिर कहते हैं कि यही कर्तव्य है। यथार्थ बोध का यह मुख्य मार्ग है।' भविष्य की चिंता नहीं करना, ऐसा कहते हैं। भविष्य की चिंता करना यह बोध नहीं पाने का मुख्य कारण है, मुख्य अवरोध है। ऐसा अपनेआप इसमें से साबित होता है। बात भले ही सौभाग्यभाई को लिखी हो परंतु सब मुमुक्षुओं को लागू पड़े ऐसी बात है।

(Dairy में, अनुभव संजीवनी में इस विषय पर एक वचनामृत-573 है)। प्रतिबंध मिटकर सही मुमुक्षुता कब प्रगट होती है? ऐसे एक प्रश्न के उत्तररूप समाधान दिया है कि 'जिस मिथ्यात्व मोहनी से रौव रौव नरक की प्रतिकूलता को महात्माओं ने संमत की है, उस मिथ्यात्व का त्याग करने के लिये मुमुक्षुजीव को ऐसी कौन सी प्रतिकूलता है जिसकी मुख्यता करके अटकने जैसा है? इसका अति गंभीरभाव से विचार करने योग्य है। 'अल्प भी भय रखना नहीं, भविष्य के एक पल की, एक क्षण की भी चिंता करनी नहीं'-ऐसी सत्पुरुष की आज्ञा जयवंत वर्तो! आत्महित के वीर्योल्लास के कारण सारा जगत और भविष्य की तमाम जिम्मेदारियों (?) का विस्मरण जब रहता है' यहाँ जिम्मेदारियों (शब्द के आगे) प्रश्नचिह्न रखा है। जिम्मेदारी कहाँ की? 'सारा जगत और भविष्य की तमाम जिम्मेदारियों (?) का विस्मरण जब रहता है, तभी सच्ची मुमुक्षुता प्रगट होती है और तभी सन्मार्ग का प्रतिबंध मिटता है।' नहीं तो ये भविष्य की चिंता है वही तुझे सन्मार्ग में अवरोध का मुख्य कारण है।

मार्ग के अवरोधक कारणों की खास जाँच करनी चाहिये। हमने dairy में (अनुभव संजीवनी) में तो classification में इसका एक पूरा वर्ग ही अलग लिया है-मार्ग अवरोध के नाम से। मार्ग के अवरोध में हर एक के अलग-अलग कारण होते हैं। सबको अलग-अलग प्रयोग देने का कारण यही है। कि इसे मार्ग में यह अवरोध है, जैसे किसी को ममत्व ज्यादा होता है तो किसी को खाने-पीने का रस ज्यादा होता है, किसी को पहनने-ओढ़ने में (रस) ज्यादा होता है, किसी को कुछ तो किसी को कुछ। वहाँ उसका पूरा आत्मा अटक गया है। इसीलिये उसे इससे विरुद्ध ले जाना पड़ता है कि तू ये छोड़, ये परिणाम छोड़ दे, चाहे कैसे भी ये परिणाम को तू छोड़, इसे छोड़ने का प्रयोग कर। और तभी सही मुमुक्षुता प्रगट होती है और तभी सन्मार्ग का अवरोध मिटता है और सन्मार्ग में आग बढ़ने के लिये अवकाश होता है।

(यहाँ आगे कहते हैं) 'यथार्थ बोध का यह मुख्य मार्ग है। इस स्थल में भूल खाना योग्य नहीं है।' (एकदम) pin point बात की है कि आप इस जगह भूल मत करना। (आपकी) ऐसी भूल होती है। अतः आप ये भूल मत करना, ऐसा कहते हैं। 'लज्जा और आजीविका मिथ्या हैं।' (ऐसे परिणाम रखने से) कुछ हाथ में नहीं आनेवाला है, आप झूठी कल्पना करते हो।

'कुटुंब आदि का ममत्व रखेंगे तो भी जो होना होगा वही होगा।' ममत्व रखेंगे तो भी होना होगा वही होगा। इसमें आप कुछ कर सकोगे, इस बात में कोई दम नहीं। आपका आत्मा परिणाम के अलावा कुछ नहीं कर सकता। आपके कार्यक्षेत्र की limit वहाँ पूरी होती है। इस हद से बाहर आप कुछ नहीं कर सकते। भाव कर सकते हैं, बस! भाव से आगे आपका कोई अधिकार नहीं है।

'तो भी जो होना होगा वही होगा। उसमें समता रखेंगे तो भी जो होना योग्य होगा वही होगा। इसीलिये निःशंकता से निरभिमानी होना योग्य है।' निरभिमानी होना यानि 'मैं करता हूँ', यह बोझ उतार देना। 'मैं कर दूँ, मैं कर दूँ' यह अभिमान है। 'समपरिणाम में परिणमित होना योग्य है...' समपरिणाम यानि विषम परिणाम नहीं करना। 'और यही हमारा उपदेश है।' (अर्थात्) यही ज्ञान हम देते हैं कि समपरिणाम रखो, चाहे जैसे उदय में भी समपरिणाम रखो।

‘यह जब तक परिणमित नहीं होगा तब तक यथार्थ बोध भी परिणमित नहीं होगा।’ सौभागभाई को आगे बढ़ने में अगर कोई बाधक कारण था तो वह संयोग की चिंता थी। कुटुंब में अपनत्व था, ये प्रतिबंध था। आपको उदय आया है दरिद्रता का, निर्धनता का वह आपको प्रतिबंध-अपनत्व छोड़ने के लिये आया है। उसे उपकारी जानना। क्या जानना इसे? उपकारी जानना। उसे दूर करने की मेहनत मत करो, रखना-दूर करना ये आपके हाथ की बात नहीं है। (उदय) पूर्वकर्म अनुसार जब आया ही है तो अपनत्व छोड़ने का प्रयत्न करो, और भविष्य की चिंता छोड़ने का, लोकलज्जा छोड़ने का (प्रयत्न करो)। कोई भी उदय को आत्महित का कारण बनाना, साधन बनाना, निमित्त बनाना। बस, यह एक कला सीख लेने जैसी है। फिर किसी उदय का दुःख नहीं है, तकलीफ नहीं है। आप मार्ग में चढ़िये, आगे बढ़िये, मार्ग पर चढ़िये और आगे बढ़िये। अंत में परम शांति और परम आनंद को पाओगे, सब दुःख छूट जायेंगे आपके, फिर कोई दुःख सामने नहीं आयेंगे।

यह जो पत्र है वह मुमुक्षु को बहुत काम में आये ऐसा है। इस तरह पूरी बात ली है। यहाँ तक रखते हैं।